

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 2 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2004

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेशचन्द्र

निर्मल वर्मा

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

पंजीकृत कार्यालय:

26/501 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

फोन : 011-22712303

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा द्वारा मुद्रित।

कार्यालय:

3/504 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. वी. एस. नायपॉल की दो यात्रा-कृतियाँ रमेशचन्द्र शाह	7
2. अन्य एशियाई देशों में मिलता भारतांश डॉ. लोकेशचन्द्र	27
3. ऐसे थे हमारे कम्युनिस्ट नेता राज थापर	47
4. खस और पैशाची भाषाएँ राजमल बोरा	61
5. हिन्दी और भारतीय संस्कृति रमानाथ त्रिपाठी	69
6. प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास रामचन्द्र शुक्ल	76
7. धर्मनिरपेक्षवाद फ्रांस्वाँ गुतियर	96
8. सेक्युलर होने का सुख डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश'	99
9. अनावश्यक भाषायी विवाद श्री भगवान सिंह	101
10. पाकिस्तान का सत्य दया प्रकाश सिन्हा	104

11. उज्बेक-भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध: एक दृष्टि अनसारुद्दीन इब्राहीमोव	108
12. 21वीं सदी में भारत-बांग्लादेश सम्बन्ध: चुनौतियाँ एवं सम्भावनायें मनोज कुमार	111
पाठकीय प्रतिक्रिया	119

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

राष्ट्र की बढ़ती समस्याएँ

भारत एक बड़ा देश है। इसकी समस्याएं भी बड़ी हैं, जिनका शीघ्र समाधान किया जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम मिलजुल कर प्रयत्न करें, इनका निदान खोजें। कुछ बातें जो इसमें बाधक बनी दिखयी दे रही हैं, वे हैं: (क) लोक-मंगल की लगातार बढ़ती अनदेखी, (ख) भारतीय विशिष्ट वर्ग/ 'एलीट' का झगड़ालूपन, उनकी आपसी संवादहीनता तथा जमीन से कटा दोना, (ग) आजादी के बाद भी औपनिवेशिक व्यवस्था एवं सोच का बना रहना, (घ) समस्याओं के प्रति निश्चिन्तता का भाव; उनके समाधान के यांत्रिक एवं तदर्थ तरीके, (ड.) राष्ट्र/समाज विरोधी सोच का प्राबल्य (च) बौद्धिक दरिद्रता, (छ) समाचार माध्यमों का नकारात्मक प्रभाव एवं (ज) समाज में आन्तरिक विभेद।

आजादी के बाद गांधीजी तथा जमीन से जुड़े अन्य नेता जन समस्याओं के प्रति उदासीन तो नहीं ही थे। उनकी संवेदना कुठित नहीं हुई थी। सार्वजनिक जीवन में शालीनता का हास होना बाकी था। दुभाग्यवश यह स्थिति बनी नहीं रह सकी। मूल्यों के हास के साथ ही जनविमुखता विस्तार पाती गयी। परिवारवाद, राजनीतिक उद्देश्यों की परिपूर्ति के लिए धन, बल तथा अपराधियों के उपयोग, राजनीतिक दलोंपर ऊपर से पकड़, एवं व्यवस्था के राजनीतिकरण ने स्थिति को और बिगाड़ा। देश में फैल रही अराजकता का अनुमान किसी भी शहर से प्रकाशित किसी दिन के किसी भी समाचार पत्र को पढ़कर लगाया जा सकता है। स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि न्याय व्यवस्था के एक स्तंभ पुलिस बल तथा न्याय दिलाने में सहायक अधिवक्ताओं के बीच लखनऊ जैसे शहर में हिंसक झड़प होने लगती हैं। राजनीतिक दलों को भी अराजकता फैलाने से परहेज नहीं है। वे लगातार 'बंद', हड़ताल, रैली, आदि का आयोजन करके सामान्य जन-जीवन में खलल डालते रहते हैं। उन्हें ऐसा करना आसान लगता है, विचार में बदलाव लाकर मतपत्रों द्वारा बदलाव कारास्ता कठिन। इसलिए हमारे राजनीतिक दल जनता को जगाकर बदलाव लाना नहीं चाहते हैं।

इस देश में हर विषय को विवाद का मुद्दा बनाया जाता है और इस कार्य में राजनीतिकों, बौद्धिकों एवं माध्यम-कर्मियों की पूर्ण सहभागिता होती है। ऐसा लगता है कि यह देश अपने आप से, अपने ही विरुद्ध, लड़ रहा हो। देश लगातार आन्तरिक जकड़न से ग्रस्त होता जा रहा है। हम देश को इस जकड़न से मुक्त कराने का प्रयत्न कब करेंगे?

आजादी के बाद के कुछ दशकों तक के समाचार पत्रों को पढ़कर ऐसा लगता था कि भारत भूमि पर रूस और अमेरिका की बौद्धिक सेनाएँ आमने सामने होकर संघर्ष कर रही हों। यह उन बौद्धिकों के इस देश की धरती से लगाव का मापदण्ड था। क्या ऐसा चीन या अन्य देशों में भी संभव था?

किसी भी देश की आन्तरिक तथा उसके द्वारा शासित उपनिवेश की व्यवस्थाएँ अलग अलग होती थी। ब्रिटेन तथा उसके द्वारा शासित भारत की पुलिस व्यवस्था भी बिल्कुल अलग अलग थी। आजादी के बाद हम पुरानी पड़ गयी व्यवस्था में सुधार न ला सके। ऐसा क्यों हुआ? हमने पुलिस, प्रशासन, न्याय व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली, आदि में सुधार की पहल क्यों नहीं किया? हम ब्रिटिश काल के पुराने विधि-विधानों का भार कब तक ढोते रहेंगे? अंग्रेजों ने भारत में अपने उपनिवेश चलाने तथा उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली का विकास किया था। आजाद भारत में उस प्रणाली के बने रहने का क्या औचित्य है? देश के कई हिस्सों में सबल होती जा रही अलगाववाद की जड़ें अंग्रेजों द्वारा प्रचारित नस्लवाद, उनके द्वारा हमारे इतिहास की गलत व्याख्या, आदि में खोजी जा सकती है। फिर नये खोजों की अनदेखी करके हम अपने बच्चों को वही सिद्धान्त, वही इतिहास क्यों पढ़ाए जा रहें हैं? इसमें दो राय नहीं है कि इस देश में पुलिस, न्यायपालिका, नौकरशाही, चुनाव प्रक्रिया एवं शिक्षा प्रणाली में सुधार बिना और समय खोए किया जाना चाहिए। इसके साथ ही हमारी राजनीतिक संस्कृति में भी बदलाव की आवश्यकता है। इनकी पहल हम कब करेंगे? इस प्रश्नों का उत्तर आवश्यक है।

अभी-अभी जनगणना विभाग द्वारा भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों की जनसंख्या संबंधी आँकड़े प्रकाशित किए गये। आवश्यकता इस बात की थी कि जनसंख्या वृद्धि में तेजी, साक्षरता की धीमी गति एवं विभिन्न धर्मावलम्बियों के जनसंख्यात्मक अनुपात में लगातार हो रहे बदलाव की समस्याओं का समाधान खोजा जाता। लेकिन हुआ ऐसा नहीं। उल्टे इन वैज्ञानिक आँकड़ों के प्रकाशन को विवाद का विषय बनाया गया; इनके प्रकाशन पर रोष व्यक्त किया गया। इस देश में धार्मिक जनसंख्यात्मक अनुपात में विचलन से उत्पन्न चिन्ता के ऐतिहासिक कारण रहें हैं, जिन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। अन्य समस्याओं की तरह यह समस्या भी समाधान खोजती है। आवश्यक है कि हम अपनी समस्याओं से आँखे न चुराएँ। उनका समाधान खोजें।

— ब्रज बिहारी कुमार

वी. एस. नायपॉल की दो यात्रा-॥तियाँ

डॉ. रमेशचन्द्र शाह*

एक

वी. एस. नायपॉल की एक और यात्रा-कृति 'बियाँड बिलीफ : 'इस्लामिक एक्सकर्शन एमड् दि कन्वर्टेड पीपुल्स' पढ़ डाली।

आखिर क्या वजह है कि उम्र के इस दौर मेंजब पढ़ने का उत्साह या उत्सुकता अपने-आप शमित हो जाना चाहती हैअपने को पढ़ने यानी आत्मानुसन्धान जिसे कहते हैं, उस दुर्निवार्य प्रवृत्ति (या, कह लीजिए, निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति) के पक्ष में खुद को विसर्जित या कम से कम, स्थगित कर देना चाहती है; और अब तक अन-पढ़े या नए चर्चित लेखकों की भी कोई एक कृति देख लें, उतना ही पर्याप्त लगने लगता हैऐसी अवस्था में इस नायपॉल नाम के लेखक ने मेरे साथ ऐसा क्या जादू कर दिया है कि एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी-चौथी...पढ़े ही जा रहा हूँ लगातार इसकी चीजें। इसमें आखिर ऐसा क्या आकर्षण है? भारत सम्बन्धी यात्रा-वृत्त इसके बहुत पहले पढ़ चुका हूँ। 'एन एरिया ऑव डार्कनेस' सन् तिरसठ या चौंसठ में निकला था तो रमेश बक्षी ने लिखवाया था मुझसे उस पर 'ज्ञानोदय' में। कदाचित् हिन्दी प्रदेश में, बल्कि पूरे देश में ही मैं उन बहुत थोड़े से लोगों में रहा हूँगा 'निन्दक नियरे' की तरहउस पुस्तक के लेखक के पक्ष में कुछ कहनेवाला। फिर 'इण्डिया : अ वूडेड सिविलाइजेशन' आई, उसने थोड़ा बिदकाया, पर आकर्षित भी किया ही; फिर एक अन्तराल के बाद 'इण्डिया : अ मिलियन म्युटिनीज नाउ' आयाएकदम बदले हुए, काफी कुछ आशावादी सुर मेंतो कुछ-कुछ 'देखो मैंने क्या कहा था' वाले अन्दाज में उस पर काफी विस्तार से लिखने को प्रेरित हुआ था। अशोक वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'समास' में वह लम्बा समीक्षा-लेख छपा था।

अब, अचानक पिछले दिनों संयोगवश नायपॉल के पिता शिवप्रसाद नायपॉल की लम्बी कहानी 'गुरुदेव'पुत्र की भूमिका समेतक्या हाथ लगी, तबसे जो सिलसिला शुरू हुआ, वह थमने का नाम ही नहीं ले रहा अभी तक। दोनों कैरेबियन

*डॉ. रमेशचन्द्र शाह अंग्रेजी के पूर्व आचार्य/प्रोफेसर तथा हिन्दी तथा अंग्रेजी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक हैं।

वृत्तान्त पढ़े, चारैक उपन्यास पढ़ डाले [मुझे लगता है, यह 'दि एनिग्मा ऑव अराइवल' उसकी सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृति है : 'ए हाउस फॉर मिस्टर विश्वास' की तुलना में ही नहीं, उसके नोबल पुरस्कार प्राप्त उपन्यास 'हाफ अ लाइफ' से भी कहीं प्रौढ़तर कृति]। 'एमड् दि बिलीवर्ज' मैं काफी पहले पढ़ चुका था, अभी फिर से पढ़ा और अब, यह 'बियाँड बिलीफ'जिसे एक अरसे से खोज रहा था और जो मिल नहीं रही थी, अचानक दवेजी के यहाँ दिख गई तो उसे भी खत्म करके ही उठा हूँ। लिखने के बीच मैं किसी तरह का विघ्न नहीं चाहता, तब फिर लिखना बीच में ही स्थगित करके मैं कहाँ इसके पीछे पड़ गया? इसका मतलब यही न हुआ कि यह एक जरूरी विघ्न है जिसका मुझे सत्कार करना चाहिए!

हर लेखक कहीं न कहीं अपने पुरखों की आवाज भी सुनना चाहता हैएक पर्युत्सुकता सी होती है उसमें गहरे कहीं उनके प्रति। और यह नायपॉल अपने पुरखों की भूमि से दूरसात समुन्दर पार उस इतिहास में फेंक दिया गया है जो उसके पुरखों का इतिहास नहीं है; बल्कि, जो उसके पुरखों के इतिहास के साथ बलात्कार करनेवाला इतिहास है। महाकाल नहीं, परम्परा नहीं, निरा ऐतिहासिक समय है। वह बलात्कार हमारे साथ भी हुआ हैभले हमें उस तरह विस्थापित नहीं होना पड़ा हो। किन्तु, न सही दिक् में, काल में तो हम भी विस्थापित हो ही गए ना! फर्क यही, कि हम आधुनिक युग की इस त्रासदी को ऊपर-ऊपर से जानते हैं; जबकि नायपॉल ने इसे बहुत भीतर से भुगतकर जाना है, पहचाना है और उसे उसके सही नाम से पुकारने का यत्न भी किया है। क्या यह यत्न ही उसका जीवन-कार्य, उसका एकनिष्ठ-एकाग्र कृतित्व नहीं है? और यह काम उसने उस बलात्कारी-दिग्विजयी सभ्यता को पूरी तरह पचाकर, समझ-बूझकर किया है [अपने पुरखों की विश्व-चेतसु, सर्व-स्वीकारी मानसिकता के अनुरूप ही]। नायपॉल सिर्फ इस घटना-क्रम को यथावत् दर्ज कर रहा है, जो बहुत कठिन, दुष्कर कार्य है। बलात्कारी की भाषा और संस्कृति और उसमें भी प्रगट हो रहे परिवर्तन के अन्धड़ों का भी वह सहानुभूतिशील-निस्संग चितेरा बना है : वे उसे अपना आदमी समझते हैं और गलत नहीं समझतेअपने यहाँ का सर्वोच्च सम्मान उसे प्रदान करते हैं। वह अब नोबल लॉरियेट सर विद्याधर सूरजप्रसाद नायपॉल हैं। वही, जो गोरखपुर (पूर्वांचल) के किसी ग्रामीण दुबे का वंशज है; जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कभी अंग्रेजों के बंधुआ मजदूर की तरह वेस्टइण्डीज के त्रिनिदाद नामक द्वीप में उनके लिए गन्ने की खेती जमाने आया था। उसके साथ उसी की तरह सैकड़ों की तादाद में सभी जातियों और धर्मों के लोग भी थे और वे सब इसी उम्मीद में गए थे कि कुछ कमा-धमा के लौट आएँगे वापस अपने पुरखों की जमीन पर। कई भूमिहीनविदेश में ही सहीअपनी भूमि पाने के लालच से भी गए थे। किन्तु उन्होंने या किसी ने भी यह कल्पना नहीं की थी कि वे कभी घर नहीं लौट पाएँगेपीढ़ी-दर-पीढ़ी वहीं उस परदेस में ही मरने-खपने को अभिशप्त होंगे। उसी परदादा की तीसरी पीढ़ी

में सीपरसाद नायपॉल जन्मानायपॉल का पिता, और मरणोपरान्त प्रकाशित 'गुरुदेव तथा अन्य कहानियाँ' का लेखक। पण्डित-पुरोहित का पहले से तय कर दिया गया वंशानुगत सुरक्षित पेशा ठुकराकर जिसने पत्रकार और लेखक का अविराम संघर्ष-भरा और जीवन-व्यापी आर्थिक बदहाली का जीवन चुना। क्यों भला? अपनी जड़ से उखड़े हुए, मगर येन-केन-प्रकारेण उसी जड़ से चिपट रहने की सामुदायिक जिजीविषा का सीधा और आसान और अपने समुदाय की नजरों में खासी प्रतिष्ठा का मार्ग छोड़कर उसने ऐसा कठिन रास्ता क्यों चुना जिसमें असुरक्षा ही असुरक्षा थी, जोखम ही जोखम था, स्वयं अपने लोगों के भी तिरस्कार और कोप यानी निर्वासन के भीतर एक और निर्वासन को न्यौता देना था। क्या मतलब था उस असम्भव से वरण-स्वातन्त्र्य का?

वह मतलब खुद उससे भी ज्यादा और उससे कहीं अधिक उत्कट-आत्यन्तिक रूप में उसके बेटे ने समझा। समझा ही नहीं; उसे उस अधूरी-अतृप्त-अभिशाप्त जीवन-लालसा को पूरा भी किया, उसे उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाकर चरितार्थ किया। जिस तरह पिता ने अपने निर्वासित समुदाय के बचे-खुचे जीवन को उसकी समूची प्रवंचना और विडम्बना के साथ, यथावत्, किन्तु उस यथातथ्यता को सचमुच नुकीला-धारदार बनाने के लिए जरूरी निस्संगता और हास्य-व्यंग्य-विद्रूप का सहारा लेते हुए साक्षात् करने की कोशिश में अपने को खपाया था, उसी तरह नायपॉल ने भी पहले अपने पिता के ही पदचिह्नों पर चलते हुए उसके अधूरे कार्य को पूरा किया एक अक्षरशः वास्तविक सृजनात्मक तर्पण के जरिए; और, तब फिर, उससे आगे जाकर, विश्व की दूसरी उजड़ी प्रजाओं की नियति का अर्थात् मजहबी और सियासी साम्राज्यवाद द्वारा, आततायी उपनिवेशवादी सभ्यताओं द्वारा पृथ्वी की अन्य मानवी प्रजातियों के साथ किए गए बलात्कार के ऐतिहासिक असत् (ईविल) कासाक्षात्कार करने का उपक्रम किया। क्या यह भी एक तरह की आत्म-जिज्ञासा ही नहीं है : 'ऐतिहासिक' आत्मा की जिज्ञासा? जिस तरह पिता की उस आत्माभिव्यक्ति की तड़प के पीछे मात्र सेण्टीमेण्ट विषाद नहीं, भावनाओं का राहत कार्य भर नहीं, उसी तरह पुत्र भी अपने जीवन की परिस्थितियों से, रुढ़िग्रस्त अनुकारी जीवन की सामुदायिक घुटन और हीनता-बोध से एक मौलिक रचनात्मक प्रतिशोध लेना चाहता है। व्यक्तिगत और सामुदायिक अंगभंग और स्मृतिभ्रंश की बलात् आरोपित त्रासदी को वैश्विक सन्दर्भों में रूपान्तरित करके साक्षात् करने की ओर प्रवृत्त होता है। क्या आत्मावसाद से उबरने, उसे अर्थ देने की यह जीवन व्यापी रचना-प्रक्रिया प्रकारान्तर से हम सभी के लिए प्रासंगिक और प्रेरक नहीं? मैं कौन हूँ? यह प्रश्न क्या अपने ऐतिहासिक आयाम में भी कोई कम विकट और दुर्दान्त पहली हैजिसके उत्तर की खोज अनावश्यक हो? मैं ही, मसलन, जिन स्थितियों और लोगों और जिन लेखकों-बुद्धिजीवियों के बीच अपने को घिरा पाता हूँवे भी क्या किसी न किसी स्तर पर आत्म-प्रतिष्ठा के लिए हीसही या गलतछटपटाते नहीं दीखते? एक घायल

सभ्यता की सदस्यता का यथातथ्य अहसास हममें से कितनों को कौंचता है और उसके वास्तविक रचनात्मक उपचार या प्रतिकार की शोध के लिए प्रेरित करता है? इस विस्थापन-उन्मूलन के ऐतिहासिक और अन्तरात्मिक आयामों के प्रति हम कितने सजग हैं? क्या हमारी उससे उबरने की कई सारी उल्टी-सीधी चेष्टाएँ भी ज्यादातर उसी ऐतिहासिक दासता के दुश्चक्र में ही फँस जाती नहीं प्रतीत होतीं? क्या हमारे अधिकांश बुद्धिजीवी अपनी तथाकथित मुक्ति-चेष्टाओं में भी उसी औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त नहीं नजर आते?

नायपॉल के प्रति इस दुर्निवार्य खिंचाव का मतलब कुछ-कुछ समझ आने लगा है। कि क्यों अपनी साहित्यिक बिरादरी के नायपॉल के प्रति असहिष्णु और प्रतिकूल भाव से परिचित होने के बावजूद मैं उनकी प्रतिक्रिया को सतही एवं पूर्वग्रहग्रस्त मानने को विवश हूँ और क्यों इस 'बाहरी' और 'पाश्चात्य मनोभूमि के लेखक' को अपने ही सोच के कई सारे 'भीतरी' लेखकों की अपेक्षा अपनी संवेदना के निकटतर पाता हूँ? नायपॉल जिससे बना है, क्या किसी सीमा तक हमारे अधिकांश बुद्धिजीवी और भारतीय समाज के इतिहास और वर्तमान के व्याख्याकार भी उसी से नहीं बने? जिससे आप बने हैं, उससे न बनना भले आपके हाथ में न हो, उसे समझना, उसे उसके आर-पार भेद करनेवाली दृष्टि को स्वायत्त कर सकना तो आपके बस का होना चाहिए ना? 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न अपनी आत्यन्तिकता में 'मैटाफिजिकल' प्रश्न ही हो, तो भी क्या हममें से अधिकांश के लिए उसके सही समाधान की राह में उसका 'ऐतिहासिक' आयाम ही सबसे अधिक बाधक और समस्याग्रस्त नहीं हो जाता? और क्या इसलिए भी, उस ऐतिहासिक आयाम की यथार्थता को जाँचना-खोजना, याथावत् उसका सामना करना अनिवार्य चुनौती नहीं बन जाता? नायपॉल अपने उपन्यासों, अपने औपन्यासिक संरचनावाले यात्रा-वृत्तों के माध्यम से और कर क्या रहा है?

दो

नायपॉल अपनी रचनाओं के पीछे कार्यरत प्रेरणा को 'सांस्कृतिक सत्य की खोज' कहता है। अपने विरोधियों के सम्मुख इस कथन का एक कवच की तरह इस्तेमाल करते हुए। शायद यहीं एक इण्टरव्यू के दौरान उसने गैब्रिएल गार्सिया मार्क्वेज, गुंठर ग्रास और सलमान रुश्दी सरीखे लेखकों के 'जादुई यथार्थवाद' पर सवालिया निशान लगाते हुए यह बात भी कही थी कि "यह जादुई यथार्थवाद लेखक को सत्य का सीधा सामना करने की बजाय उससे दूर छिटकने का अवसर प्रदान करता है।"

"यह किताब लोगों के बारे में है। किसी मत के प्रतिपादन के लिए नहीं लिखी गई है यह" नायपॉल कहता है 'बियॉण्ड बिलीफ' के पुरोवाक में। "यह कहानियों की किताब है उन कहानियों की, जो वर्ष 1995 में चार गैर-अरब मुस्लिम देशों की

पाँच महीनों की यात्रा के दौरान लिखी गई : इण्डोनेशिया, ईरान, पाकिस्तान और मलेशिया की। इसीलिए इसका एक भरा-पूरा सन्दर्भ है और सुनिश्चित विषय-वस्तु भी।

वह विषय-वस्तु क्या है? सत्रह वर्ष पूर्व नायपॉल ने इन्हीं देशों के यात्रानुभवों पर जो पुस्तक 'एमडू द बिलीवर्ज' नाम से लिखी थी, उसी का उत्तर-पक्ष या सम्पूरक है यह 'बियाण्ड बिलीफ'। धर्मान्तरण और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक फलितार्थों की विषय-वस्तु वहाँ भी थी; किन्तु लेखक की ही खुद की स्वीकारोक्ति के अनुसार, "तब मैं उसे इतना साफ-साफ नहीं देख-समझ सका था, जितना इस दूसरी यात्रा के दौरान देख-समझ सका हूँ।" तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि उस पहले वाली पुस्तक में भी उन देशों के परम्परागत सामुदायिक जीवन-विश्वासों और सांस्कृतिक पीठिका के सन्दर्भ में ही इस्लाम की 'रेवोल्यूशनरी' भूमिका के अध्ययन, निरीक्षण और आकलन की ही प्रेरणा थी और दूसरी पुस्तक में भी वही प्रेरणा प्रतिफलित हुई है : निश्चय ही, अधिक विस्तार में और अधिक गहरी खुदाई करते हुए। अधिक आत्मविश्वासपूर्ण स्वर के साथ भी, जैसे कि पहलेवाली खोजी दृष्टि की उपलब्धियाँ ही नए सिरे से, और अधिक ब्यौरों में सम्पुष्ट हो रही हों। विषय-वस्तु भी एक प्रौढ़ और परिपक्व अनुभूति में रूपान्तरित हो रही हो : सृष्टि की उस दिव्यता-पवित्रता के बोध के क्रमिक विघटन और लोप की अनुभूति में, जो नायपॉल के लिए आदिम और परम्परागत मानव-समुदायों की आधारभूत विशेषता रही थी। प्रश्न यह उठता है कि क्या नायपॉल के इस आकलन को, इस दृष्टि को महज एक सांस्कृतिक सारवाद ('कल्चरल एसेन्शियलिज्म') बताकर छुड़ी पाई जा सकती हैजैसाकि हमारे कई बुद्धिजीवियों का अभिमत जान पड़ता है? क्या वह आज के विश्व का एक अकाट्य तथ्य ही नहीं हैयह दिव्यता और पवित्रता के बोध का लोप? क्या उसकी चिन्ता समूची मानव-जाति के सन्दर्भ में एक अनिवार्य चिन्ता नहीं है? स्वयं इतिहास के (इतिहास-वाद के नहीं, इतिहास के) तर्क से?

सत्रह वर्ष पूर्व लिखी गई उस 'ऐमंग द बिलीवर्ज' पुस्तक के प्रारम्भ में तीन उद्धरण टाँके गए थे जिनमें पहला ही उद्धरण ग्रीक इतिहासकार पॉलीबियस का था। उसे फिर से पढ़ें और देखें कि किस तरह वह नायपॉल की विषय-वस्तु और उसकी जो अर्जित समझ है उसकी, उसको झलकाता है। पॉलीबियस कहता है :

"...अतीत में विश्व का इतिहास परस्पर-असम्बद्ध घटनाओं की श्रृंखला भर हुआ करता था : उन घटनाओं का उत्स और उनके परिणाम एक-दूसरे से उतने ही पृथक् छिटके हुए रहते थे, जितने वे स्थान, जहाँ वे घटनाएँ घटी थीं। किन्तु, अब, आज के इस मोड़ के आगे इतिहास एक 'आंगिक सम्पूर्ण' 'ऑर्गेनिक होल' बन गया है। इटली और अफ्रीका की घटनाएँ एशिया और यूनान की घटनाओं से जुड़ी

हुई हैं और तमाम सारी घटनाएँ कुल मिलाकर न केवल आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध दिखाई देने लगती हैं, बल्कि एक निश्चित परिणाम या अन्त की ओर अग्रसर होनेवाली भी..."

वह 'निश्चित परिणाम या अन्त' क्या हैपॉलीबियस का उक्त उद्धरण इसका खुलासा नहीं करता। किन्तु संकेत की तरह उसे पढ़ा जा सकता है। पॉलीबियस ईसा-पूर्व की दूसरी शताब्दी में यह लिख रहा था। तब तक सिकन्दर का साम्राज्यवादी अभियान घटित हो चुका था। यूनान और ईरान के बीच के युद्ध भी। रोमन साम्राज्य जड़ पकड़ रहा था हालांकि 'होली रोमन एम्पायर' अभी भविष्य के गर्भ में ही था।

'ऐमंग द बिलीवर्ज' का पहला खण्ड ईरान की 'जुड़वाँ क्रान्ति' पर है और उसके पहले ही अध्याय मेंजिसका शीर्षक 'डेथ पैक्ट' हैएक ईरानी उपन्यास का उल्लेख आता है ['फेरी की कथा']। भला क्यों? अपनी यात्रा-पुस्तक का आरम्भ एक कल्पना-प्रसूत कहानी से क्यों करता है यह लेखक? क्या वह उपन्यास द्वारा उद्घाटित 'सत्य' को पत्रकारी वृत्तान्त से कहीं अधिक प्रामाणिक, कहीं अधिक गहरा सत्य मानकर चलता है? उपन्यास की कथा बताने से पहले ही वह जो कहता है, ध्यान देने योग्य है। कहता है"लोग अपने वक्तव्यों की आड़ में अपनी वास्तविक वृत्तियों को बखूबी छुपा ले सकते हैं; जबकि कहानी अपने ऊपर से चक्करदार दीखनेवाले वृत्तान्त के जरिए तमाम छुपी हुई गुप्त प्रवृत्तियों, सम्मानों, प्रेरणाओं, नीयतों को उजागर करने में सक्षम होती है।" लगता है, इस कथन के जरिए नायपॉल न केवल उस 'फेरी की कथा' को देने के औचित्य को, बल्कि प्रकारान्तर से खुद अपनी लेखन-प्रक्रिया के औचित्य कोखुद अपनी यात्रा-कृतियों की कथात्मक संरचना के औचित्य को भी झलकाए दे रहा है। और सचमुच, अपने ही पठनानुभव के आधार पर कहूँनायपॉल के यात्रा-वृत्त मुझे उपन्यासकार के स्वधर्म से विचलन या भटकाव बिलकुल नहीं लगते; बल्कि उसी का विस्तार, उसी का एक रूप लगते हैं। फर्क सिर्फ इतना, कि यात्रा-वृत्तों में निबद्ध कथाओं की घटनाएँ और चरित्र कल्पना-प्रसूत न होकर सचमुच जीते-जागते और सुनिश्चित स्थानों-परिवेशों में सक्रिय साक्षात् मानव-चरित्र और वास्तव में घटित घटनाएँ हैं।

अब, वह 'फेरी की कथा' क्या है? नाम उस उपन्यास का 'फेरी की कथा' नहीं, 'फौरेनर' है, और वह सन् 1978 में प्रकाशित उपन्यास है, जब ईरान में शाह की हुकूमत थी। तख्तापलट नहीं हुआ था अभी। उपन्यास की लेखिका नाहीद रैचलिन सीधी राजनैतिक टिप्पणी की बजाए उपन्यास के माध्यम से अपनी बात कह रही है। ऊपर से सामान्य दीखता यह उपन्यास दरअसल गहरी टूट-फूट, असहायता और आन्तरिक विखराव से भरे आत्मावसाद को अंकित करता है। बत्तीस वर्षीया फेरी, जो बोस्टन में जीव-विज्ञान पर शोध कार्य कर रही है, किसी छुट्टी में तेहरान आती है। वहाँ

वह बीमार पड़ती है, एक डॉक्टर से अपना इलाज करवाती है और पाती है कि वह वापस नहीं लौट सकती। वह एक मानसिक शून्यता के दौर से गुजरती है। डॉक्टर, जो खुद यूरोपियन चिकित्सा-प्रणाली में ही प्रशिक्षित, उसी का विशेषज्ञ है, फेरी से कहता है—“जो यह आमाशय के ‘अल्सर’ का रोग तुम्हें हुआ है, वह एक पाश्चात्य रोग है।” इस विचित्र और अपने आप में रुग्ण-असामान्य निदान से और स्वयं इस डॉक्टर की देख-रेख के फलस्वरूप फेरी के मानस में अजीब परिवर्तन घटित होने लगते हैं। वह उस जीवन का ही परित्याग कर देती है, जिसे जीने के लिए वह प्रशिक्षित हुई थी और जो सचमुच उसके व्यक्तित्व को सार्थकता देनेवाला सोद्देश्य कर्म और बौद्धिक जीवन-चर्या थी। उस मूल्यवान् उपलब्धि को और उससे जुड़ी सार्थक जीवन की सारी सम्भावनाओं को अपने भविष्य को हीकूड़े में फेंककर फेरी जीवन से विरक्ति ओढ़ लेती है। मस्जिद और चादर इस विरक्ति और पलायनेच्छा के बाह्य प्रतीक भर हैं।

अर्थात्नायपॉल इस पर टिप्पणी करता हुआ कहता है—“वह पाश्चात्य बुद्धि-चर्या और कर्मकृशलता में पली-पुसी युवती तथा उसकी चिकित्सा कर रहा वह डॉक्टर दोनों बुद्धि के जीवन से, बुद्धि-सम्मत पुरुषार्थ से मुँह मोड़कर एक दूसरे के करीब एक ऐसे समझौते के तहत आ रहे हैं जो एक तरह से आत्मघात ही है।” नायपॉल ने अध्याय का शीर्षक जो ‘ईरानी डेथ-पैक्ट’ दिया है, वह यँ ही नहीं। दोनों पात्र वास्तविक जीवन की हलचल और चुनौतियों से पलायन कर गए हैं अपनी शिया धर्म-चर्या में जिनसे, वे उम्मीद करते हैं, उन्हें वास्तविक आत्म-प्रतिष्ठा, पूर्णता और अखण्डता हासिल हो जाएगी। बाकी तो जीवन जैसा चलता है चलता ही रहेगा। दूसरे लोगयानी ‘फॉरिनर’ विदेशी-विजातीय-विधर्मी लोग अपने आध्यात्मिक दृष्टि से निःसत्त्व और बंजर देशों में वे सारे उपकरण बनाने के काम में खुद को झोंके रहेंगे, जिनका इस्तेमाल यह डॉक्टर अपने पेशों में करता है; जिनको इस्तेमाल करने-रखने का उसे गर्व भी है। नायपॉल एक तीखे निर्णायक व्यंग्य के साथ इस आत्म-प्रवंचना से पटे परिदृश्य पर टिप्पणी जड़ते हुए कहता है, “इस तथाकथित धार्मिकता का सबसे बड़ा खोट या छिद्र यही है कि यह उन सारी चीजों-साधनों का उपयोग धड़ल्ले से करता है, जिन्हें बनाते और मुहय्या करने का काम हमेशा दूसरों का हैयानी, उस ‘फॉरिनर’-विजातीय-विधर्मी सभ्यता काजो अनिष्ट है, त्याज्य है, पर एक अनिवार्य बुराई की तरह है। हम इस सभ्यता से दूर रहेंगे, उससे नफरत करेंगे; पर उसके द्वारा उपजाई गई नियामतों का उपभोग अवश्य करेंगे।”

‘ऐमंग द बिलीवर्ज’ पढ़ चुकने पर फेरी की कथा को आरम्भ में ही देने का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। पूरी पुस्तक के भीतर से लेखक का जो आलोचनात्मक कथ्य उभरकर आता है उसमें निबद्ध सारे प्रसंगों, चरित्र-कथाओं के भीतर से, वह उपर्युक्त टिप्पणी के मेल में ही है।

तीन

यहाँ पर मुझे थोड़ा अटककर सोचने की जरूरत महसूस होती है। यह अटक कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी ‘इण्डिया : अ वूडेड सिविलाइजेशन’ को पढ़ते हुए महसूस हुई थी। गाँधीजी शुरू-शुरू में नायपॉल के हीरो हैं : वह उन्हें उपनिवेशवाद के ‘ईविल’ को उजागर करने और उसके जबर्दस्त प्रतिरोध की पहल करनेवाला तो अवश्य मानता है, किन्तु यह सराहना वह पूर्वाद्ध के गाँधी के लिए सुरक्षित रखता है। वह अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले जुझारू युवा गाँधी का, तथा भारत में आते ही स्वच्छता का अभियान चलानेवाले, अपने देशवासियों को उनके आलस्य के लिए फटकारनेवाले गाँधी का प्रशंसक है। बाद के गाँधीजी के बारे में उसका आकलन प्रतिकूल है। उसका विचार है कि वे भी अन्ततः प्राचीन भारत की उसी निवृत्तिमार्गी संन्यासमुखी, जीवन से विमुख करनेवाली निषेधात्मक परम्परा के हवाले हो गए जो कर्म-मात्र को निरर्थक और स्वयं जीवन को एक माया-मरीचिका बना देती है। क्या इस तरह का दो-टुक विभाजन करनेवाला मूल्यांकन न्यायसंगत कहा जा सकता है? प्रश्न बहुत उलझा हुआ है। जिन्होंने भारत की बीसवीं सदी के दूसरे महान् कर्मयोगी किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में योग-समाधिलीन श्री अरविन्द को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है, वे जानते हैं, कि स्वयं श्री अरविन्द ने भी अपने चिन्तन में भारतीय सभ्यता के इतिहास के अपने आकलन में संन्यासपरक मायावाद का सचोट प्रत्याख्यान किया है और कहा है कि पिछली कई शताब्दियों से भारत में जीवन के देवता का तिरस्कार होता रहा है जो उतना ही अनर्थकारी है जितना पश्चिमी सभ्यता की नितान्त देहवादी-भौतिकवादी परिणति। हिन्दी साहित्य के जानकारों को इस विषय में जयशंकर प्रसाद द्वारा की गई भारतीय इतिहास की व्याख्या भी अवश्य याद आएगी जिसके मुताबिक भारत में निरन्तर दो परस्परविरोधी धाराओं का द्वन्द्व चलता रहा है : एक आदर्शवादी : दुःखवादी तथा दूसरी आनन्दवादी-यथार्थवादी। नायपॉल ने उस तरह कोई व्याख्या तो नहीं दी है, पर उसका दृष्टिकोण पिछली सदी के महान् भारतीय नेताओं-विचारकों के मेल में ही सभ्यतापोषक, बुद्धिवादी और प्रगतिशील जान पड़ता है। इस्लाम के विपरीत हिन्दू-धर्मदर्शन को वह इस वैज्ञानिक, प्रगतिपोषक दृष्टि के आड़े आनेवाला नहीं, बल्कि उसका समर्थन करनेवाला मानता है, यह भी उसकी भारत-विषयक कृतियों से स्पष्ट है। किन्तु ऐसा विश्वास वह हमारी बुद्धि में नहीं जगा पाता कि हिन्दू धर्म-दर्शन और चिन्ताधाराओं की उसकी समझ पक्की या पर्याप्त है। उसके पिता और उसके बीच का जो पत्र-व्यवहार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है, उससे यह तो पता चलता है कि पिता सुधारवादी, रूढ़ि-विरोधी, प्रगतिशील विचारों के होने के साथ-साथ बड़ी उत्कट जिज्ञासा हिन्दू धर्म-दर्शन और उसके आधुनिक प्रवक्ताओं को लेकर रखते थे और श्री अरविन्द के ‘एस्सेज ऑन गीता’ पढ़कर बेहद

प्रभावित-रोमांचित हुए थे; किन्तु स्वयं वयस्क नायपॉल की एतद्विषयक जिज्ञासा या जानकारी का वैसा प्रमाण नहीं मिलता। ऐसे में गाँधीजी को, या उस तरह भारतीय सभ्यता को या धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं को तथा उनके अर्वाचीन प्रतिनिधियों को लेकर उसकी टिप्पणियाँ अपर्याप्त, अपुष्ट और बड़ी उथली सी लगने लगती हैं। बिना उनमें गहरे उतरने का प्रमाण दिए, उस पर लगे 'कल्चरल एसेन्शियलिज्म' के आरोप का प्रत्याख्यान कैसे किया जा सकेगा?

पर इसका मतलब क्या यह निकलता है कि नायपॉल पश्चिमी आधुनिकता का, पश्चिमी बुद्धि-ऊर्जा, संगठन-क्षमता और सामुदायिक, इतिहास-बोध का ऐसा इकतर्फा आलोचनाशून्य अनुयायी यानि पैरोकार है जो पूर्वीय परम्पराओं/विशेषकर भारत के समग्र जीवन-दर्शन का विरोधी है? क्या उसका इतिहास-बोध हेगल या मार्क्स जैसा ही है जो भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य को सर्वथा उचित-वांछनीय और ऐतिहासिक अनिवार्यता की तरह मानतापेश करता है? वेशक नायपॉल मार्क्सवादी नहीं है, क्रान्तिवादी भी नहीं है, तब फिर क्या है? हमारे कुछ गैर-कम्युनिस्ट सेक्युलरिस्ट बुद्धिजीवी भी उसे पश्चिमपरस्त बताते हैं; कुछ तो उसे पुनरुत्थानवादी कहने में भी नहीं हिचकते। इसका क्या कारण है? जिसे उसके साहित्य पर शोध करनेवाले उसका 'सांस्कृतिक एसेन्शियलिज्म' कहके परिभाषित करते हैं, उसका क्या अर्थ है? क्या उसे रेलीजस फंडामेंटलिज्म' के साथ उतनी आसानी से नत्थी किया जा सकता है, जैसाकि हमारे कई कम्युनिस्ट और सेक्युलरिस्ट बुद्धिजीवी करते फिर रहे हैं?

जब ईरान में क्रान्ति हो रही थी, उन दिनों मेरे घनिष्ठ मित्रहिन्दी के कवि-आलोचक स्व. मलयजसे मेरी लम्बी बहस उस पर हुई थी। वे खुमैनी के प्रशंसक थे। हैरानी की बात मेरे लिए यह उतनी नहीं थी उनके मार्क्सवादी सम्मान को देखते हुए [क्योंकि तब तक इस क्रान्ति में कम्युनिस्ट विचारधारावाले ईरानी नवयुवकों की भागीदारी भी बहुप्रचारित थी] जितनी कि यह, कि मलयज खुमैनी की तुलना सीधे महात्मा गाँधी से करने लगे थे : उनके अनुसार खुमैनी कुछ-कुछ वैसी ही भूमिका ईरान को पाश्चात्य सभ्यता की गुलामी से आजाद करने के लिए निभा रहा था जैसी भूमिका हिन्द-स्वराज लाने के लिए गाँधीजी ने निभाई थी। नायपॉल के लिए तो ऐसी तुलना ही अकल्पनीय ठहरेगी। उसके वृत्तान्त में ईरानी क्रान्ति में भागीदार कम्युनिस्टों का प्रतिनिधि चरित्र बहजाद है। क्रान्ति के प्रथम चरण में इन कम्युनिस्टों का पूरा समर्थन खुमैनी को रहा और खुमैनी को भी इसमें कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं थी। मगर बाद में कम्युनिस्ट फालतू बोझ की तरह किनारे धकेल दिए गए। क्यों? नायपॉल बताता है कि जनवरी 1979 में, फ्रांस में निर्वासित जीवन बिता रहे खुमैनी ने दुनिया के ईसाइयों के नाम एक अपील छपाई थी जिसमें एक बराबरी की सभ्यतावाले लोगों को सम्बोधित किए जानेवाला स्वर था। पर वह स्वर अगस्त में अपने मुल्क और मजहब के लोगों को सम्बोधित करते हुए एकदम बदल जाता है।

...“दुनिया की सरकारें जान लें कि इस्लाम कभी पराजित नहीं किया जा सकता। इस्लाम दुनिया के सारे देशों में विजय-पताका फहराएगा और कुरान की शिक्षा समूची दुनिया को अपने अधीन कर लेगी” खुमैनी कहता है। इतना ही नहीं, इसके आगे का वक्तव्य भी खुमैनी का नायपॉल ने उद्धृत किया है जो, जाहिर है उस जनवरी वाली अपील की तरह 'न्यूयार्क टाइम्स' के पाठकों को नहीं परोसा जा सकता था।

“...जब डेमोक्रेट लोग स्वतन्त्रता की बात करते हैं, तब वे महाशक्तियों द्वारा प्रेरित-संचालित होते हैं वे हमारे नवयुवकों को भ्रष्टाचार के गर्त में धकेलना चाहते हैं। ...अगर वे यही चाहते हैं, तो ठीक है, हम प्रतिक्रियावादी हैं। और तुम, जो वेश्यावृत्ति और स्वतन्त्रता चाहते हो हर मामले में, तुम बुद्धिजीवी हो। लेकिन हम अपने जवानों को इतिहास में एक नया युग तराशते देखना चाहते हैं। हमें बुद्धिजीवियों की कोई दरकार नहीं।...”

जिन धर्म-विश्वासी सामान्यजनों को खुमैनी सम्बोधित कर रहा है, बहजाद उन्हें अपनी आइडियोलॉजिकल शब्दावली में 'लुम्पेन' कहता है। “कम्युनिस्ट बहजाद उस तरह मजहब पर विश्वास नहीं करता” नायपॉल हमें बताता है। “...किन्तु शिया ईरान में पला-पुसा होने के कारण 'न्याय' की उसकी अवधारणा उसी मुताबिक है। स्तालिन-राज का सुनहला सपना उसके लिए अली के राज के सुनहले स्वप्न का ही एक रूप है। पैगम्बर के देहावसान के पाँच वर्ष बाद ही 637A .D में अरबों ने फारस (ईरान) पर कब्जा कर लिया था और, जैसाकि इस्लाम का विधान है एक ही झटके में ईरान का समूचा गौरवशाली अतीत अन्धकार युग घोषित हो गया।” लेकिन, जैसाकि नायपॉल का कहना है, ईरानियों के स्वाभिमान ने इस मूलोच्छेद के भीतर से ही एक दूसरा रूप ले लिया। ईरानियों को पक्का विश्वास है कि सर्वाधिक सच्चे और शुद्ध मुसलमान वे ही हैं।

लेखक महाकवि फिरदौसी के समाधि-स्थल को भी देखने गया। उसकी दुर्दशा का उसने मार्मिक चित्रण किया है। यही वह कवि था जिसने अरब-विजय के चार सौ बरस बाद भी बिना अरबी शब्दों का इस्तेमाल किए शुद्ध फारसी में अपना महाकाव्य रचा और जो अपने देश पर बलात् अरबी संस्कृति थोपे जोन के खिलाफ था। उसकी कब्र की हालत खस्ता है; उस पर खुदी सारी इबारतें बिगाड़ दी गई हैं। भला क्यों? लेखक के शब्दों में, इसलिए, कि “इस्लाम से पहले का कुछ भी रक्षणीय नहीं; सब कुछ निषिद्ध, त्याज्य, गर्हणीय है।”

आश्चर्य की बात यह भी, कि नायपॉल भी अपने समानधर्मा विश्वविख्यात उपन्यासकार मिलान कुन्देरा की तरह ही इस्लाम और मार्क्सवाद को कई मानों में एक सरीखा बताता है। कुन्देरा ने अपने उपन्यास 'दि जोक' की शुरुआत में ही यह बात टाँकी है; तो नायपॉल ने 'ऐमंग दि बिलीवर्ज' के ईरान-प्रकरण में कम्युनिस्ट आस्था से प्रतिबद्ध बहजाद के प्रसंग में यह समीकरण बिठाया है। तब तक कम्युनिस्ट-खुमैनी

गठबन्धन टूट चुका है। सारे कम्युनिस्ट खुमैनी के खिलाफ हो गए हैं। नायपॉल कहता है, “बहजाद का भावावेग, उसके आक्रोश का लक्ष्य भी उतना ही सपाट-सरलीकृत है, जितना उसके शत्रु (यानी, खुमैनी) का। दोनों ही एक ही तरह के तर्कातीत ‘रेवीलड ट्रूथ’ का दावा करते और उसी पर निर्भर हैं। अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं के अपने एक खास पाठ पर। दोनों ही पूर्ण विश्वास और सम्पूर्ण समर्पण से कम कुछ नहीं चाहते। दोनों एक ही धर्मोन्माद या रागासक्ति (‘पैशन’) की खुराक पर पलते हैं। न्याय, एकता और प्रतिशोध की खास अवधारणा पर। खुमैनी ईश्वरेच्छा का स्वयंनियुक्त भाष्यकार है, धर्म-विश्वासियों का नेता। वह ईरानी जनता के दिग्भ्रम को व्यक्त करता है उसे ईरान के गौरव की तरह प्रस्तुत करते हुए। साथ ही, वह उस समूची आधुनिक सभ्यता को नकारता है जिससे वह चारों तरफ से घिरा है, जिस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं। किन्तु उसका उपयोग करने तथा उस पर निर्भर रहने में उसे कोई अटक नहीं। किसी प्रकार का अन्तर्विरोध उसे नजर नहीं आता दोनों बातों में।

इस पहली पुस्तक का उपसंहार करते हुए नायपॉल कहता है कि इस्लाम को यह जो नया क्रान्तिकारी जोश मिला, वह उसके भीतर से नहीं, बाहरी विश्व-घटना-चक्र और परिस्थितियों से पैदा हुआ था। विश्व-सभ्यता के प्रसार ने यह उफान पैदा किया था। बीसवीं सदी के उत्तर-उत्तरार्द्ध की काल-गति ने ही पुराने इस्लामी विचारों (समता + एकता) को नया उन्मेष प्रदान किया था और गतिरुद्ध इस्लामिक समाजों में एक उथल-पुथल मचाई थी। इसलिए, यह वही काल-गति या काल-बोध हो सकता था, न कि सुदूर सिद्धान्त इस्लामी मजहब के जो कि प्रत्यासन्न समस्याओं और चुनौतियों का पर्याप्त प्रभावशाली प्रत्युत्तर दे सकता था समयानुरूप उपयुक्त संस्थाएँ, कानूनी और आर्थिक तन्त्र के ढाँचे निर्मित करके। मगर विडम्बना यह है कि क्रान्ति की परिणति उल्टी दिशा में हुई : ‘इस्लामिक फण्डामेंटलिज्म’ उससे उपजकर आया जो कि पूरी तरह पीछे की ओर देखनेवाला था, न कि भविष्यदर्शी-प्रगतिशील। नायपॉल के कथनानुसार ज्यादातर मुस्लिम देशों में वही फण्डामेंटलिज्म पैगम्बर के विश्वास से अपनी भाव-ऊर्जा खींचता हुआ सक्रिय है। बहजाद जैसे नवयुवक भले चेतन स्तर पर पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष और नास्तिक कम्युनिस्ट बन गए हों, किन्तु उनका अवचेतन मानस इस्लामी संस्कारों द्वारा ही निर्मित और संचालित था। फलतः अधिकाधिक इस्लामी देशों में बहजादों की ही तादाद बढ़ती जा रही है जो इस्लामिक ‘पैशन’ के ही विपर्ययस्वरूप एक आमूलचूल शुद्धीकृत समाज का सपना देख रहे हैं [“एण्ड इन्कीजिंगली नाउ इन इस्लामिक कण्ट्रीज, देयर बुड बी बहजादूस्, हू इन एन इन्वर्जन ऑव इस्लामिक पैशन, वुड हैव अ विजन ऑव अ सोसाइटी क्लींस एण्ड प्योरिफाइड अ सोसाइटी ऑव बिलीवर्ज”]।

इस प्रकार ‘ऐमंग द बिलीवर्ज’ में नायपॉल मुस्लिम देशों की स्वयं को पुनर्नवीकृत कर सकने की क्षमता पर प्रश्नचिह्न लगाता है। उनकी तुलना में भारत को लेकर,

उसके वर्तमान और भविष्य को लेकर उसका दृष्टिकोण ‘एन एरियो ऑव डार्कनेस’ में व्यक्त सन्देह और निराशा से आरम्भ करते हुए बाद में भारत के जटिल उलझे यथार्थ के साथ क्रमशः गहराते परिचय के साथ अधिकाधिक आशावादी होता जाता है। वह पाता है कि भारत के सनातन धर्म-दर्शन की परम्पराओं का आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से कोई विरोध या असामंजस्य नहीं प्रकट होता। अपनी सबसे हाल की भारतविषयक पुस्तक में वह ठोस दृष्टान्तोचरित्र-साक्षात्कारों के जरिए यही दर्शाता है कि परम्परागत धर्मरक्षकों-धर्मशिक्षकों यानी ब्राह्मणों ने तो वैज्ञानिकता को अपनाया ही, सामान्य प्रजाजनों में भी नए प्रगतिशील विचारों-तकनीकों को सीखने और आगे बढ़ाने का पर्याप्त उत्साह है। पश्चिमी सभ्यता की सांगठनिक विशेषताओं को भी स्वायत्त करने की तैयारी दीख रही है क्योंकि पिछली दो सदियों के दौरान यहाँ सुधारवादी आन्दोलन भी खूब होते रहे जिनके फलस्वरूप हिन्दू समाज काफी-कुछ एक खुला प्रगतिकामी समाज बन गया है। इसके विपरीत इण्डोनेशिया से ईरान तक जहाँ-जहाँ नायपॉल ने मुस्लिम देशों के यात्रानुभव लिपिबद्ध किए हैं उसके निष्कर्ष आधुनिक जगत् में इस्लामिक राजनीतिक आकांक्षाओं को लेकर उपलब्धियों को लेकर भीऋणात्मक ही हैं। वह पाता है कि इस्लामी मतवाद से प्रेरित राजनीति प्रतिगामी ही हो सकती है क्योंकि इसके सामने इस्लामिक राज्य का कोई सुस्पष्ट और आज की दुनिया में व्यावहारिक और रचनात्मक स्वरूप होता ही नहीं। जहाँ ‘एन एरिया आव डार्कनेस’ में भारतीयों को हास्यास्पद औपनिवेशिक नकलचियों की तरह देखा गया था, यहीं पृष्ठभूमि में कहीं गहरे गड़े असली भारत का भी धुँधला अहसास झलकता था, जो उस अपूर्ण प्रतीत होती पुस्तक में नहीं, बाद में आनेवाली दो कृतियों में उजागर हुआ। ‘भारत : एक घायल सभ्यता’ इसी सर्वव्यापी औपनिवेशिक नकलची भारत के नीचे दबे-गड़े असली भारत के अन्वेषण का उपक्रम है। ‘अ मिलियन म्यूटिनीज’ तक आते-आते नायपॉल का नकार ‘स्वीकार’ में रूपान्तरित हो जाता है। विप्लवी वर्तमान में ही भारत के सही आत्मविम्ब की उपलब्धि का आश्वासन पाने लगती है वह।

नायपॉल की दूसरी पुस्तक ‘बियॉण्ड बिलीफ’ पहली की तुलना में अधिक सघन और संश्लिष्ट संरचनावाली है। भूमिका में ही लेखक ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है। उसी के शब्दों में :

“इस्लाम केवल अन्तरात्मा का या निजी विश्वासों का मामला नहीं है। उसका चरित्र साम्राज्यवादी है। इसलिए, अनिवार्यतः वह वैसी ही माँगों का दबाव अपने अनुयायियों पर बनाता है। एक धर्मान्तरित मुसलमान की विश्व दृष्टि आमूलचूल बदल जाती है। उसके लिए सारे तीर्थस्थान अरब में होते हैं और एकमात्र विपत्र भाषा अरबी। उसका इतिहास-बोध भी एकदम उलट जाता है। वह स्वयं अपने पुरखों को, उनके इतिहास को, जातीय-स्मृति को एक सिरे से खारिज करने को विवश है। उसका

नया मजहब उसे उस सब कुछ को तिलांजलि देने को प्रेरित करता है जो अभी तक उसका था, उसके जीवन, उसके मानस का अनिवार्य अंग। ऐसे में समूचे मानव-समुदायों में जो भूकम्पीय उथल-पुथल वह मचा सकता है, अकल्पनीय है। लोग वास्तविकता में जीने की बजाय फण्टासियों में जीने लगते हैं। 'मैं कौन हूँ क्या हूँ?' के सम्यक् और ऐतिहासिक आत्मानुसन्धान की बजाय उनके भीतर एक आरोपित फण्टासी जड़ जमा लेती है।"

चार

इस पुस्तक में आए चरित्र, उनके कथोपकथन, जीवन-वृत्त सब उक्त विडम्बना के मानवीय मर्म को उद्घाटित करनेवाले हैं। वे दर्शाते हैं कि धर्मान्तरित देशों के इस्लाम में 'न्यूरोसिस' और 'निहिलिज्म' का घर कर जाना कितना व्यापक तथ्य है। मसलन, चाहे इण्डोनेशिया के इमायुद्दीन की कथा हो, चाहे मिस्टर वाहिद की, यही जताती है कि इण्डोनेशिया के नए फण्डामैण्टलिस्टों के लिए सबसे बड़ा युद्ध स्वयं अपने ही अतीत के विरुद्ध लड़ा जाना थायानी, उस सबके विरुद्ध, जो उन्हें अपनी धरती से जोड़े रखता था। पैगन अतीत के स्मारकों की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध प्रदेश जावा है। किन्तु, "इस्लाम के बाहर या इस्लाम के यहाँ आगमन से पूर्व का कुछ भी स्वीकारा नहीं जा सकता।" इमायुद्दीन लेखक को बताता है "बोरोबुदूर भी नहीं।"

इस आधुनिक और योरोप-प्रशंसक नायपॉल को 'सैक्रेड' के लोप काउसके सम्पूर्ण विनाश का दर्द सताता है। 'अ सैक्रेड प्लेस' नामक अत्यन्त मार्मिक अध्याय में वह जिस तरह इस अनुभूति को बयान करता है, उसका कुछ अंश मुझे खुद उसी की भाषा में उद्धृत करना ठीक लग रहा है :

"आइ फेल्ट दैट दि लैण्ड वैंट बैक एण्ड बैक, फार बियाँण्ड द सेविंथ सेंचुरी बिगिनिंग ऑव दि हिन्दू किंगडम ऑव श्रीविजय एण्ड माइट हैव बीन ऐज ओल्ड ऐज राइस इटसेल्फ। हियर आर इटर्नल फॉर्मज ऑव दि क्रिएटेड वर्ल्ड। दि स्पिरिट ऑव दि प्लेस वॉज देयर, मोर दैन ऐट पाफेस इन साइप्रस, व्हेर वीनस इशूड आउट ऑव दि सी। दे हैव बिल्ट अ मौस्क, बट दि इटेण्ट ऑव दि मौस्क इज नॉट टु क्लेम दि सैक्रेड, बट टु ट्रायम्फ ओवर इट। बिकॉज दि सैक्रेड प्लेसेज ऑव दि मुस्लिम आर ओन्ली विद दि प्रॉफेट, इन ऐनदर कण्ट्री..."

नायपॉल इस जगह थोड़ा ठिठककर आत्मकथा का सुर पकड़ लेता है, अपने बचपन के त्रिनिदाद को याद करता है जो यूरोपियन गोरों द्वारा अधिगृहीत हुआ। पर उस द्वीप से पवित्रता-दिव्यता का वैसा भाव नहीं जुड़ा क्योंकि एक तो वहाँ कोलम्बस से पहले के युग का स्मरण दिलानेवाला कोई शिल्प नहीं; दूसरे किसी ने उसके बारे में कभी कुछ लिखा भी नहीं। इस तनिक से विषयान्तर के बाद नायपॉल आगे जो कहता है, वह हिन्दी अनुवाद में इस प्रकार है :

"...पवित्र के बोध का अभाव ही नई दुनिया का असली अभिशाप हैपर्यावरण की क्षति से भी कहीं अधिक गहरा अभिशाप। और उस वंचना से ग्रस्त नई दुनिया का नागरिक पुरानी दुनिया के पास जाता है उस खोई हुई निधि को फिर से खोजने। इसलिए, मुझ सरीखे अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उन्मूलित पृष्ठभूमिवाले आदमी के लिए यह एक बहुत ही विचित्र अनुभव है कि धर्मान्तरित मुस्लिम देशों में अपने ही सांस्कृतिक अतीत के विरुद्ध यह फण्डामैण्टलिस्ट हिंस्रभावस्वयं इतिहास के ही विध्वंस पर तुला हुआकैसा है, जो पहले तो एक विराट् आध्यात्मिक खोखलापन उपजाता है और फिर उस खोखले शून्य में से एक सच्चे धर्मविश्वास के उदय का स्वप्न देखता है!"

यह कितनी गहरी बात है, किस कदर विचलित करनेवाला यथार्थ है हमारे समय का! पता नहीं नायपॉल के आलोचक जब उस पर 'कल्चरल एसेंशिएलिज्म' का बिल्ला ठोकते हैं तो वे कहना क्या चाहते हैं। जबकि नायपॉल इसी प्रकरण में साफ-साफ यह कहता है कि "धार्मिक या सांस्कृतिक शुद्धता का विचार एक फण्डामैण्टलिस्ट फ़ैण्टेसी के सिवा कुछ नहीं।" इण्डोनेशिया (खासकर जावा) के प्रसंग में ही देवी नामकी चरित्र का वृत्तान्त आता है जो अपने व्यक्तित्व-निर्माण की पृष्ठभूमि के सारे सूत्रों को समान रूप से मूल्यवान् मानती है। अपनी पृष्ठभूमि को याद करता लेखक यहाँ पर कह उठता है, "जहाँ त्रिनिदाद की हरियाली गुलाम बस्तियों द्वारा पैदा की गई तथा तत्पश्चात् टूरिस्ट व्यापार द्वारा पनपाई गई हरियाली थी, वहाँ यह जावा का लैण्डस्केप (भू-दृश्य) एक अति पुरातन मानव-बिरादरी की पवित्र जातीय स्मृति है जिसे बचाए रखना प्रत्येक मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी है।" "इस्लामिक फण्डामैण्टलिज्म" की क्रूरता, उसके कथनानुसार यही है कि "वह संसार में केवल एक जाति कोअरबों, यानी पैगम्बर के देशवासियोंको ही एक अतीत रखने का और तीर्थस्थान मानने का अधिकार देता है जो तीर्थस्थान अन्य देशों के धर्मान्तरित मुस्लिमों के लिए केवल वहीं हो सकते हैंअरब में ही। उन्हें अपने देश के अतीत को एकदम ही उतार फेंकना है। नायपॉल इसे किसी भी तरह की रु-रियायत से हीन निपट साम्राज्यवाद ('दि मोस्ट अनकम्प्रोमाइजिंग काइंड ऑव इम्पीरियलिज्म') कहता है।

योग्यकार्ता (जकार्ता) के एक कवि लाइनस की बड़ी प्रभावशाली छवि प्रस्तुत की है नायपॉल ने इसी सिलसिले में। कठपुतली नाटकों का भी विशद वर्णन किया है, जिन पर हिन्दू और जैन संस्कृतियों की सुस्पष्ट छाप है। लाइनस ध्वंस और विघटन के साथ जीने को अभिशाप्त हैउसकी आँखों के सामने ही एक समूचा मूल्यवान् विश्व नष्ट होने की कगार पर है। सबसे विचलित करनेवाली चीज उसके लिए अपने पैतृक गाँव की परम्परागत जीवन-प्रणाली में आ रही टूट-फूट है।

नायपॉल प्राचीन पर्शिया के सम्राट साइरस के महल के खण्डहर देखने पसरगदा नामक स्थान की यात्रा करता है। यहाँ पारसियों के अग्नि-देवता के मन्दिर का 'टॉवर'

खण्डहरों के बीच धँसा पड़ा है। उसी वक्त हिन्दुस्तान से कुछ पारसी वहाँ तीर्थयात्रा की श्रद्धा लेकर आए हुए थे और आनुष्ठानिक विलाप कर रहे थे। “ईरान में इस्लाम-पूर्व अतीत को खोज पाना लगभग असम्भव है” नायपॉल कहता है। किन्तु पाकिस्तान की बात दूसरी है। इस पुस्तक में पाकिस्तान पर जो पहला ही अध्याय है उसका शीर्षक उसने ‘अ क्रिमिनल एण्टरप्राइज’ रक्खा है। ब्रिटिश काल हिन्दू पुनर्जागरण का काल था। मुसलमान अतीत-गौरव की फण्टासी में ही गर्क रहे आए। नायपॉल के अनुसार इसी से वह ‘न्यूरोसिस’ उपजा क्योंकि अपनी फण्टासी में निमग्न एक धर्मान्तरित मुसलमान यह भूल जाता है कि वह कौन है, क्या है और अजीब विध्वंसक मानसिकता उसकी हो जाती है। “यह कुछ वैसी ही विडम्बना है,” नायपॉल कहता है, “जैसे मानो मैक्सिको और पेरु के लोग कार्तेज और पिजारो सरीखे आक्रमणकारियों को अपने पुरखे मानने लगे।” ऐसी मानसिकता के चलते स्वाभाविक था कि पाकिस्तान लूट-पाट के पुराने विचारों से ही प्रेरित-प्रभावित हुआ। केवल, इतना ही फर्क पड़ा कि राज्य ईश्वर है, यह विचार थोड़ा बदल गया और पाकिस्तान अमरीका का उपग्रह बन गया। पहला विचार-बीज पाकिस्तान का सन् 1930 में इकबाल ने मुस्लिम लीग की बैठक में बोया था। नायपॉल ने उसे उद्धृत किया है। “इस्लाम ईसाइयत की तरह नहीं है” इकबाल ने कहा था अपने उस भाषण में। “वह निजी अन्तरात्मा और व्यक्तिगत साधना का धर्म नहीं है। इस्लाम कुछ निश्चित कानूनी अवधारणाओं के साथ प्रकट होता है। इन कानूनी अवधारणाओं का नागरिक महत्त्व ‘सिविक सिग्निफिकेंस’ है और वे एक सुनिश्चित समाज-विन्यास, ‘सोशल ऑर्डर’ को जन्म देते हैं। इसलिए कोई भी राष्ट्रीय किस्म की राजनीतिचौंक उसका अर्थ होगा, एकता के इस्लामिक सिद्धान्त का विस्थापनकिसी भी हालत में मुसलमानों के लिए ग्राह्य तो क्या, कल्पनीय भी नहीं है।”

सन् 1930 में ‘नेशनल पोलिटी’ का मतलब अखिल भारतीय ही हो सकता था। इसलिए घुमा-फिराकर इकबाल जो कह रहे हैं वह यही था कि मुसलमान सिर्फ दूसरे मुसलमानों के साथ ही रह सकता है। इसका अर्थ, नायपॉल के कथनानुसार, यही हुआ कि अच्छी दुनिया एक विशुद्ध रूप से कबीलाई दुनिया ही हो सकती है। यानी, वस्तुतः पाकिस्तान की माँग के पीछे विशुद्ध मुस्लिम पोलिटी की माँग के पीछे इकबाल द्वारा हिन्दू भारत का नकार है। यहाँ पर अपनी पहलेवाली पुस्तक का उल्लेख करते हुए नायपॉल कहता है, “उस वक्त जिस चीज का अस्तित्व नहीं था और इसलिए मैंने जिसे तब परिभाषित भी नहीं किया था, वह यह नई मुस्लिम पोलिटी थी जो नए राज्य के साथ आनेवाली थी। इकबाल के उक्त भाषण में उस ‘पोलिटी’ का कोई ठोस सगुण रूप उभरकर नहीं आता। वह एक अमूर्तन हैकवि-सुलभ अमूर्तन। ‘इट हैज टु बी टेकन ऑन ट्रस्ट। दि प्रॉफेट्स नेम इज ईवन यूज्ड इनडाइरेक्टली टु रिकमेण्ड इट’...।

विडम्बना देखिएनायपॉल कहता है, “कि यह नई मुस्लिम पोलिटी जो पाकिस्तान के रूप में मूर्त होकर सामने आई, वह दरअसल वही पुरानी मध्ययुगीन पोलिटी थी, जिसके बारे में इकबाल को खूब पता था। इस पोलिटी में प्रजा उतनी ही गूँगी और वास्तविक प्रतिनिधित्व से उतनी ही वंचित है, जितनी वह तब रही होगीसन् तीस में, जब इकबाल ने अपना वह मशहूर लेक्चर दिया था।

पाकिस्तान के कई क्षेत्रों का आँखों देखा हाल प्रस्तुत करने के बाद नायपॉल टिप्पणी करता है, “एक धर्मान्तरित (कन्वर्ट) के लिए अपनी मातृभूमि का कोई धार्मिक या ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रह जाता। न प्राचीन स्मारकों का। उसके लिए पवित्रता का वास अगर कहीं है तो सिर्फ अरब के रेगिस्तान में; और कहीं नहीं। उसे एक चरित्र मिलता है राना, जो उसे अपने गाँव ले जाता है और कहता है, “मैं राजपूत हूँ।” इस पर नायपॉल की टिप्पणी देखिए :

“एक ‘कन्वर्ट’ के लिए स्वाभाविक जोश में इकबाल ने सोचा होगा कि नए राज्य में लोगों को अस्मिता प्रदान करने के लिए इस्लाम भर काफी होगा। जात-बिरादरी के इतिहास-जन्य विचार अपने-आप गायब हो जाएँगे। इकबाल की यह मान्यता बिलकुल गलत थी। इसी तरह शहबाज नाम के युवक का और जिस मार्क्सवादी गुट का वह सदस्य था, उस गुट का भीविचार था कि मार्क्स और मार्क्सवादी क्रान्ति वह काम कर देंगे जो इस्लाम करने में विफल रहा। यह एक हवाई बात थी, जो कभी फलनी नहीं थी।

पाकिस्तान प्रकरण का उपसंहार ‘लौस’ शीर्षक अध्याय से होता है, जिसमें नायपॉल दर्शाता है कि किस तरह “ज्यादातर भारतीय मुसलमानों के लिए हिन्दुस्तान का बँटवारा एक महान् विजयोल्लास था, जैसे खुदा मिल गए हों।” यह भी, कि “इकबाल ने कभी नहीं सोचा कि नए राज्य में इतिहास का अर्थ ही बदल जाएगाबौद्धिक जीवन सिकुड़ जाएगा। मगर हुआ यही : इतिहास भयानक रूप से क्षत-विक्षत, विकलांग बना दिया गया। बल्कि इतिहास एक ‘न्यूरोसिस’ में बदल गया। कितना कुछ सरासर अनदेखा कर दिया गया, कितना कुछ मनगढ़न्त! किसी को परवाह नहीं, कि इससे लोगों की जिन्दगियाँ कितनी प्रभावित होती हैं। क्या आदमी सिर्फ अपने मजहब का ही होता है? अपनी भूमि से उसका कोई जुड़ाव नहीं होता? नायपॉल इस तथ्य को भी दर्ज करना नहीं भूलता कि पाकिस्तान में केवलमात्र सिन्धी ही ऐसे हैं जो अपनी भूमि से लगाव महसूस करते हैं।

पाँच

‘बियॉण्ड बिलीफ’ जैसा कि मैंने आरम्भ में ही संकेत किया था, ‘ऐमंग द बिलीवर्ज’ की अपेक्षा एक अधिक सघन-संश्लिष्ट यात्रा-कृति है। यहाँ लेखक मानव-चरित्रों के अन्वेषक और संग्राहक के रूप में सामने आता है। उसकी टिप्पणियाँ भी उनके

वृत्तान्त के भीतर से ही प्रकाशित होती हैं। पुस्तक के चारों खण्ड मिलकर-जुड़कर एक समग्र संरचना में पर्यवासित होते हैं। यह अन्विति, यह एकाग्रता उसमें धीरे-धीरे ही आई है। अब जाकर नायपॉल इस खोज तक पहुँचा है कि एक यात्रावृत्तकार के लिए भी कथाकार की तरह यात्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वे जीते-जागते सगुण मानव-चरित्र हैं जिनके बीच वह स्वयं को पाता है। यों, 'इण्डिया : अ मिलियन म्युटिनीज नाउ' में भी यह औपचारिक रचाव है। किन्तु वह ज्यादा भारी-भरकम किताब है; उसमें लेखक का मात्रा-ज्ञान कहीं-कहीं चूकता नजर आता है। जबकि 'बियाँड बिलीव' की नैरेटिव एकता में झोल नजर नहीं आते। नायपॉल यहाँ एक कुशल 'मैनेजर ऑव नैरेटिव' (उसी की शब्दावली में) की भूमिका में प्रस्तुत होता है। उसकी खुद की आवाज बहुत धीमे पार्श्व-संगीत की तरह रूप लाती है : बेवजह अपनी ओर ध्यान आकर्षित नहीं करती।

धर्मान्तरण की विषय-वस्तु को लेकर ऐसा एकाग्र, संवेदनशील और फिर भी सर्वथा वस्तुपरक आख्यान दुर्लभ है। चाहे इण्डोनेशिया का प्रकरण हो, चाहे मलयेशिया का, लेखक बखूबी दर्शाता है पर्याप्त अकाट्य साक्ष्यों के आधार पर, कि पुरातन विश्वासों और अनुष्ठानों की दुनिया से एकाएक आसमानी किताब (रेवील्ड रेलीजंस) की दुनिया में संक्रमण कर जाने का मानवीय मोल क्या होता है। ये किताब वाले धर्म जो मानवीय और सामाजिक सरोकारों को केन्द्र में रखते हैं, उस पार्थिव (पैगन) धर्मभावना से एकदम उलट पड़ जाते हैं। मगर, जहाँ यह पार्थिव धर्मभावना बहुदेववादचेतना की उच्चतम मनोभूमि पर साक्षात्कृत और सत्यापनीय अद्वैतानुभव के साथ-साथ, अविरोध भाव से कार्यरत हो, वहाँ? वहाँ जो समस्याएँ उठती हैं, मतवादी धर्मानुयायियों तथा छायाजीवी परप्रत्ययनेव सेक्युलरेस्टो के साथ सह-जीवन की समस्याएँ, उनका समाधान क्या यूरोपीय आधुनिकता, यूरोपीय संगठन-भावना (जिसे नायपॉल सेंस आव कम्प्युनिटी कहता है) से अपने आप हो जाता है? नायपॉल इसके विचार में बहुत गहरे उतरता नहीं दिखाई पड़ता। असहिष्णु मतवादों के कारण जो प्रतिक्रियात्मक ऐंठन स्वयं उस सहिष्णु और समावेशी समुदाय की मुख्य धारा में आ सकती है, उनका सामना या प्रतिकार किस तरह किया जाना है, इस बारे में भी नायपॉल हमारी बहुत मदद करता नहीं दीखता।

हाँ, वह एक रोचक प्रश्न अवश्य उठाता है : सम्भवतः इसी पुस्तक की भूमिका में। हिन्दू धर्म अन्य विश्व-धर्मों की तुलना में अधिक आध्यात्मिक बुनियाद पर खड़ा है, मूलतः अहिंसक और चराचरवादी है। ऐसा दावा जो किया जाता है, वह तो चलो, मान लो, बिलकुल सच है। "लेकिन," वह पूछता है, "इस बीसवीं सदी में यह जो गाँधी नामक घटना घटित हुई, वह क्या ऐतिहासिक नहीं है? क्या गाँधी का हिन्दुत्व अन्यो के हिन्दुत्व से अलग अपनी पहचान नहीं बनाता? गाँधी को अपने सामाजिक

विचार क्या जिसे हिन्दू परम्परा कहा जाता है, वहाँ से मिले? कि अन्य स्रोतों, जैसे कि ईसाइयत का भी उसमें योग मानना होगा?

निश्चय ही यह प्रश्न अपेक्षणीय नहीं है। भारत के वर्तमान और भविष्य को, भारतीय राजनीति को देखते हुए भी। तथाकथित हिन्दुत्व की राजनीति और वह जिस कांग्रेसी और कम्युनिस्ट राजनीति की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उभरकर आई है, उसके यथातथ्य आकलन के लिए भी। हमने लेख की शुरुआत में ही जयशंकर प्रसाद के हवाले से भारत के धार्मिक इतिहास में निरन्तर सक्रिय दो धाराओं की बात उठाई थी : वैदिक-अवैदिक, दुःखवादी-आनन्दवादी धाराओं की। किन्तु, क्या नायपॉल ईसाइयत और इस्लाम की जिन सामाजिक-ऐतिहासिक भूमिकाओं की, विश्व-सभ्यता को उनके तद्विषयक योगदान की बात करता है, वह क्या उन दोनों धाराओं में नितान्त अनुपस्थित है? भारतीय समाजवादियों का अवैदिक धाराविशेषकर बौद्धधर्म के प्रति जो प्रबल आकर्षण रहा है, उसका क्या कारण है? स्वयं यूरोप का वैदिक कर्मयोग की अपेक्षा बौद्ध दुःखवाद के प्रति झुकाव क्या जताता है? क्या सचमुच बौद्धधर्म सामाजिक-ऐतिहासिक आयामों में यूरोपियन इण्डोलॉजी द्वारा परिभाषित ब्राह्मणवाद अथवा वैदिक कर्मयोग की पारम्परिक और आधुनिक भारतीय कर्मज्ञो-मनीषिकों द्वारा पुनर्मूल्यांकित धारातथाकथित हिन्दुत्व की तुलना में अधिक प्रगतिशील है? रामचन्द्र गाँधी सरीखे दर्शनशास्त्रियों ने जो दूसरी धारा में पहले की तुलना में अधिक सभ्यतागत उछाल (सिविलाइजेशनल थ्रस्ट) देखा है, उसका क्या अर्थ है?

हमने नायपॉल के पिता के प्रसंग में श्री अरविन्द का उल्लेख किया था। योगिराज बनने से पूर्व अरविन्द भारतीय राजनीति के गरम दल के अग्रणी नेता के रूप में उभरे थे, जैसेकि गाँधीजी नमर दल के गोखले के शिष्य रूप में। दोनों के बीच जो मतवैभिन्य दीखता है, वह इस सन्दर्भ में मुझे उल्लेखनीय और चिन्तनीय लगता है। उत्तर योगी अरविन्द के पत्रों में कई जगह गाँधी का उल्लेख आया है असहमति की मुद्रा में। मसलन उपवास को लेकर अरविन्द की टिप्पणी ['एक व्यक्ति समूचे समुदाय के पापों का प्रायश्चित्त करने बैठे, यह ईसाई विचार है और हिन्दू परम्परा से मेल नहीं खाता']। इसी तरह, सुनते हैं क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के आग्रह के साथ अरविन्द ने विशेष सन्देशवाहक कांग्रेसी नेताओं के पास भेजा था। स्पष्ट ही, गाँधी के सोच के विरुद्ध। इस प्रकार, जो द्वन्द्वत्मकता भारतीय इतिहास में पहले से देखी गई है, वह ठेठ बीसवीं सदी में भी सक्रिय दीखती है। नायपॉल में इसका यथेष्ट विमर्श नहीं मिलता। पर युवा-गाँधी के प्रति उसकी अनुरक्ति तथा उत्तर-गाँधी से उसकी विरक्ति ध्यान देने योग्य है; उसकी यह मान्यता भी, कि सनातन भारतीय धर्म-दर्शन में ही कुछ ऐसा इतिहास-विरोधी और जीवन-द्रोही तत्त्व है जो गाँधी सरीखे कर्मठ और जुझारू व्यक्तियों की भी कर्म प्रेरणाओं को कुन्द कर देता है और आधुनिक जीवन की चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ने में बाधक बनता है। क्या नायपॉल युवा

गाँधी की तेजस्विता का पूरा श्रेय उनकी योरोपीय विचार और कर्मठता से हुई टकराहट को ही देना चाहता है? ऐसा हो भी, तो इससे भारतीय (कह लीजिएहिन्दू) विश्व-दृष्टि या जीवन-दर्शन की दुर्बलता सिद्ध होती है, याकि इष्ट प्रभावों को आत्मसात् करने की सामर्थ्य और लोच? नायपॉल इस जगह खासे विभ्रम में पड़ा दीखता है।

नायपॉल के अन्तःकरण में भारत और यूरोप के इतिहासों और दृष्टियों की तुलना चलती रही है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। पर उसमें बहुत गहरे उतरने की तैयारी का आश्वासन वह नहीं देता। एक जगह इसी पुस्तक में नायपॉल कहता है, “यूरोप को क्लासिकल (ग्रीको-रोमन) दुनिया से सीधे ईसाइयत में छलॉंग लगानी पड़ी; इस छलॉंग या संक्रमण के पीछे कितना अन्तर्द्वन्द्व, कितना आत्म-मन्थन, कितनी पीड़ा रही होगी? आसान नहीं है हमारी कल्पना के लिए उस काल के यूरोपीय मानस में पैठकर देखना।” तो क्या योरोपीय घात-प्रतिघातों के बीच उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के भारतीय मानस के अन्तर्द्वन्द्व और आत्ममन्थन और पीड़ा उससे कोई कम थी? क्या नायपॉल की कल्पना-शक्ति ने इस काल के भारतीय मानस में, अथवा इससे भी पूर्व इस्लाम के थियोलॉजिकल साम्राज्यवाद के मर्माघात से जूझ रहे हिन्दू मानस के भीतर गहरे पैठने का यथेष्ट अध्यवसाय प्रदर्शित किया है? उत्तर ‘हाँ’ भी हो सकता है : ‘इण्डिया : अ वूडेड सिविलिजेशन’ तथा ‘अ मिलियन म्युटिनीज नाउ’ के पाठकों के लिए; और हाँ, इन दो पुस्तकों के पाठक के लिए भी। किन्तु इन पंक्तियों के लेखक को वह यथेष्ट नहीं जान पड़ता। खासकर, उत्तर-गाँधी से नायपॉल की विरक्ति का आधार अस्पष्ट, अतिव्याप्त और अनर्गल जान पड़ता है और समकालीन तथा प्राचीन भारत के सम्बन्ध के भीतर ज्यादा गहरी निस्संग पैठ की माँग करता है। यहाँ मैं बौद्धधर्म के प्रकाण्ड विद्वान् तथा प्राचीन इतिहास-पुरातत्त्व के मर्मज्ञ प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डे का मन्तव्य उद्धृत करना चाहूँगा : जो नायपॉल की भारतविषयक धारणाओं के सन्दर्भ में भी मुझे प्रासंगिक जान पड़ती है। पाण्डेजी के कथनानुसार

“...भारतीय संस्कृति सनातन विद्या की ऐतिहासिक परम्परा है। मूलतः वैदिक युग में यह संस्कृति एक सहज अखण्डता से लक्षित थी। परवर्ती युग में सभ्यता के विकास के साथ साधनात्मक मूल संस्कृति सभ्यता के विश्व से पृथक्-सी एक धारा बन गई...मध्यकाल में सांस्कृतिक मूल से न्यूनाधिक रूप में विच्छिन्न होने के कारण सभ्यता का प्रासाद भी क्रमशः ढह गया। जहाँ नवीं-दसवीं शताब्दियों तक भारतीय सभ्यता विश्व-सभ्यता की प्रथम श्रेणी में थी, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वह निश्चित रूप से पिछड़ी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी से अवश्य ही फिर से प्राचीन परम्परा की स्मृति उभरी है...गीता का पुनः प्रचलन और उसकी कर्मयोगपरक व्याख्या आध्यात्मिक संस्कृति को सामाजिक-भौतिक जीवन से जोड़ने का प्रयास है जिसे गाँधीजी ने व्यावहारिक जीवन में मूर्तिमान् किया है।...स्वतन्त्रता के बाद के युग में

सभ्यता के निर्माण में एकान्तिक रूप से लगी हुई भारतीय चेतना, कम से कम तत्कालिक रूप से, मूल संस्कृति की प्राणदायकता के तत्त्व को भूल सी रही है। पर अपने समय के विषय में तटस्थता से कुछ कहना कठिन है।...”

मेरा ख्याल है, पाण्डे जी की उपर्युक्त बातें कमोबेश नायपॉल के भारतविषयक सोच के मेल में ही होंगी। हाँ अन्तिम से पहलेवाले वाक्य में अभिव्यक्त चिन्ता में नायपॉल का भी साझा होगा या नहीं, हमारे लिए इस समूची चर्चा के परिप्रेक्ष्य में इस बारे में स्पष्ट हो पाना कठिन है। अब रही, आज के इस समय के विषय में तटस्थता से कुछ कहने की कठिनता की, तो हमेंनायपॉल के पाठकों कोयह भरोसा होना ही चाहिए कि कम से कम नायपॉल सरीखे आउटसाइडर बुद्धिजीवी के लिए यह काम कठिन नहीं होना चाहिए क्योंकि एक सहानुभूतिक्रम आउटसाइडर की आँख कभी-कभी ऐसा भी बहुत कुछ देख और दिखा सकने में कारगर होती है जिसे तथाकथित ‘इनसाइडर’ भी अपने पूर्वग्रहों-दुराग्रहों की कैद के कारण अथवा अतिपरिचय के बासीपन के चलते नहीं देख पाते।

पुस्तक समीक्षा

प्रकाशक अपने सद्यः प्रकाशित पुस्तकों की
2 प्रतियाँ ‘चिन्तन-सृजन’ में समीक्षा के लिए
भेज सकते हैं।

प्रकाशक

अन्य एशियाई देशों में मिलता भारतांश

डॉ. लोकेशचन्द्र*

अनुवादक : बाबूराम वर्मा

एक चीनी कवि का कथन है : “साम्राज्य भरभराकर धराशायी हो जाते हैं किन्तु नदियाँ और पर्वत अपनी-अपनी जगह स्थिर बने पूर्ववत् खड़े रहते हैं।” पारगमिता के पर्वत और एशिया की अनन्तता की सदानीरता, आध्यात्मिकता और संवेदनाओं की नदियाँ सहस्राब्दियों के मध्य से झाँकती ही रहती हैं। वरदानों के उद्यान में बोए हमारे बीज उगे हुए हैं। भारतवर्ष आत्मा की गम्भीर आवश्यकताओं, अविच्छिन्न आकाश में अनन्त के दर्शन, शून्य की परिपूर्णता, एक और शून्य के आलिंगन, कला और जीवन में अमूर्तता और ऐन्द्रियता के संयुजन, बौद्धिकता और मनन-चिन्तन, नेत्रों और तर्क से परे सौन्दर्यश्लेषण, रहस्यमय और निर्वैयक्तिक नियमों के रूप में कार्य करते विश्व का अथवा जैसे अथर्ववेद 19.53 का वचन है : “काल ने ही प्रजापति का सृजन किया”, प्रतीक बना हुआ है। एकाकी चिन्तन करते अर्हतों, धरों और बोधिसत्त्वों ने, जिन्होंने सजीव प्राणियों की सहायता करने के लिए अपना निर्वाण प्राप्त करना भी छोड़ दिया, बौद्धधर्मानुयायी एशिया का जीवन और आधार रहे हैं। एशिया के करोड़ों लोगों के लिए धर्म एक उज्ज्वल आशा और जीवन का सत्य बनकर रहा है। उनकी शताब्दियों का नग्नचरण प्रकाश देवी-देवता बनकर, न केवल इतना ही, बल्कि मानव के देवत्व का प्रतिबिम्ब बनकर, जगमगाता रहा। समय ने अपने द्वार कमलों के सोपानों अथवा देवताओं के आसनों पर देदीप्यमान उनकी आत्माओं के लिए खोल दिए। यह समूचा सांस्कृतिक अन्तःप्रवाह ऋण स्वीकारने अथवा प्रभावित होने की अपेक्षा स्वप्नों में साझेदारी करना रहा है।

जो आभ्यान्तरिक शक्ति एशियाई देशों की सहजीविता के नीचे काम करती दिखाई पड़ती है वह मानव और ब्रह्माण्डीय के मध्य अथवा गयठे के शब्दों में “वास डी वेल्ट आन इन्नरस्टेन जुजामहेल्ट” (कैसा आन्तरिकतम दृढ़ बन्धन वाला संसार) की समरसता है। क्षणस्थायी और चिरन्तन दोनों को दीप्तिमान चेतना मिली हुई है। इन्हें विभिन्न जातीयताओं और वयों की बुनावट से मेल खाती तरह-तरह की बुद्धियाँ

* प्रो. (डॉ.) लोकेशचन्द्र, भूतपूर्व सांसद (राज्यसभा), भारत विद्या के प्रकाण्ड विद्वान तथा इण्टरनेशनल एकेडेमी आफ इण्डियन कलचर' के अध्यक्ष हैं।

मिली हुई हैं। यह तीन स्तरों, अर्थात् *संस्कार*, *संस्कृत* और *संस्कृति* के प्रतीकवाद में किया हुआ बुद्धिमत्ता और जीवन का किया हुआ सम्मिश्रण है। *संस्कार* सबसे भीतरवाली चेतना है जहाँ सामूहिक जीवात्मा और व्यष्टिक अनुभव ही सर्वोच्चतम की असमाप्येय आत्मा हैं। *संस्कृत* इसकी वाचिक अभिव्यक्ति है ताकि आन्तरिक प्रकाश, उपनिषदों की *अन्तर्ज्योति* समय की अवधियों में बिना रोकटोक हुए निरन्तर प्रवाहित होती भविष्य में पहुँचती और उसे सम्पन्न बनाती रहे। दृश्य मूर्त परिभाषिकों में इसकी अभिव्यक्ति है *संस्कृति*, अनन्तता का दृश्य, शाब्दिक और अभिनेय कलाओं, जैसे गोल रूप में भास्कर्य, सपाट रूप में चित्रकला और गद्य और पद्य, संगीत, नृत्य और रंगमंच में *कायिक* रूपधारण। इस प्रकार *संस्कार*, *संस्कृत* और *संस्कृति* का यह त्रित्व या *त्रिवेणी* देदीप्यमान प्रकृति की संगम है।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश पूर्वी हान वंश के सम्राट मिङ् के कारण हुआ जिसे स्वप्न में एक स्वर्ण मानुष उड़ता हुआ राजमहल में आते दिखाई पड़ा। दरबारियों ने जब उसे बताया कि ये तो पश्चिम के ऋषि बुद्ध हैं तो उसने सूत्रों और श्रमणों को वहाँ से लिवाने के लिए अपने दूत भारत भेजे। सन् 64 ई. में वे काश्यप मातंग और धर्मरक्ष को साथ लेकर वापस लौटे। चीनियों की पहल पर ही बौद्ध धर्म ने अपने विचारों, साहित्य और दृश्य अभिव्यक्ति की लम्बी तीर्थयात्रा का श्रीगणेश किया। यह दो संस्कृतियों का, जिनके अपने-अपने नए व्यक्तित्व थे, पारस्परिक प्रवाह और पुनःप्रवाह था।

चीनी लेखक तुअन-चेङ्-शिह (800-863 ई. के लगभग) ने तुषार (तोखार) के बल्ख नगर की स्थापना के बारे में एक दन्तकथा वर्णित की है। तोखारियों के भाषाई लक्षण और वस्त्रनिर्माण विधि केल्टों जैसे ही हैं। सैकड़ों तोखारा ममियाँ (वस्त्रावृत्त शव) तारिम के पाट से मिली हैं जिनमें से अधिकांश को लगभग 1000 ई. पू. समय में रखा गया है, जबकि सबसे पूर्ववर्ती ममियों को जो लूलान् से प्राप्त हुई 2000-1800 ई. पू. जितना पहले जमीन में दफनाया गया होगा। लूलान् की नील नेत्र और हल्के भूरे केशवाली सुन्दरी को 2000 ई. पू. जितने प्राचीन समय में रखा जा सकता है। ह्यून त्साङ् तोखारी राज्य की चर्चा (बील 1884 : 1, 37) करता है और कहता है कि बाभियान में व्यवहार किया जानेवाला साहित्य, रीति-रिवाज और व्यापार में व्यवहार की जानेवाली मुद्रा वैसी ही थी जैसे तोखारी राज्य में व्यवहार किए जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि तोखारी बहुत पुराने समय में यहाँ आकर बस गए थे और वहाँ से मध्य एशिया में प्रव्रजित हो रहे थे। बाँस पुस्तकों में चाऊ वंश के सम्राट मू की यात्राओं का उल्लेख किया गया है जिसने 1001-945 ई. पू., पैतालिस वर्षों तक शासन किया। उसने उत्तर की उड़ती रेतवाली मरुभूमि पार की, क्यून-लुन् पर्वत पर चढ़ा और पश्चिम की राजमाता (खिवाङ् मू) के दर्शन किए। पीकिङ् विश्वविद्यालय के प्रा. ज. वाङ् वाङ्वेई ने मुझे बताया कि वह राजमाता देवी उमा ही है। प्रतीत होता

है कि उदीच्य देश या उत्तर-पश्चिमी भारत भाग का दूसरी सहस्राब्दि ई. पू. जितने प्राचीन समय में मध्य एशिया और चीन के साथ सम्बन्ध थे और प्रथम सहस्राब्दि ई. पू. में ये सम्बन्ध और भी ज्यादा बढ़ गए थे।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश एक नव्यता था। इस प्रवेश का अर्थ एक नए बौद्धिक श्रेष्ठ वर्ग का निर्माण होना था जिसमें भिन्न-भिन्न उद्गमों के लोग आकर मिल सकते थे। संन्यासी आदर्श ने एक नए प्रकार के सामाजिक संगठन की सृष्टि की जिसमें पहले की दृढ़ जाति वर्ग सीमाएँ मिटा दी गई थीं। बौद्ध विहार के लिए प्रयुक्त

चीनी शब्द के 寺 स्सू का अर्थ मूलतः 'राजकार्यालय' था। बौद्ध पारिभाषिकों का चीनी भाषा में रूपान्तरण करते समय हान और उत्तरहान वंशों के राजवर्णनों के पश्चिमी देशों का वृत्तान्त वाली प्रणाली अपनाई गई। संस्कृत के आचार्य चीन में सरिण्डियन घोड़ों पर आरूढ़ होकर आए थे जिन्हें चीनी सम्राट बहुत अधिक चाहते थे। सन् 148 ई. में पार्थियन राजकुमार भिक्षु आन्-शिह-काओ लोयाड् पहुँचा और वहाँ उसने भारी साहित्यिक क्रियाशीलता का आरम्भ किया जो एक सहस्राब्दि तक चलता रहा। बौद्ध राज्यों से आनेवाले सूत्रों, भास्कर्य और चित्रकार्यों ने चीनी मन के लिए नई भावनाओं की शुरुआत की। आन्-शिह-काओ ने चीनी में संस्कृत से की गई पुनर्रचनाओं का नया युग आरम्भ किया जो चीनियों (मन्दारिनो) के कन्फूशियाई वर्ग की रचनाओं से पूर्णतया भिन्न जीवन के सभी क्षेत्रों से आनेवाले चीनी बौद्धिकों की प्रभावकारी उपलब्धियाँ बन गई। नई जनता संस्कृति ने राजमहल संस्कृति को ऊर्जस्वित किया जिसमें बिना किसी वर्ग भेदभाव के जीवन के सभी क्षेत्रों से सांस्कृतिक और बौद्धिक जीवन की मुख्य धारा में प्रतिभावान भिक्षुओं का प्रवेश हुआ। अश्वारूढ़ आए सूत्रों और श्रमणों से एक नया प्रतीकवाद चल निकला जिसमें श्रेष्ठतर अश्वों को श्रेष्ठतर मानवों के बराबर रखा गया। चीनी शासन-प्रणाली और काव्य में उच्च रणतुरंग 'शक्ति और गुण' था, क्योंकि राज्य का गुण-निर्धारण भी सूत्रों की मूल्य प्रणाली से किया जा रहा था। आन्-शिह-काओ द्वारा किए गए सुखावती ब्यूह के अनुवाद ने चीन को इन कारणों से सम्मोहित करके रख दिया (i) प्रथम, किसी गैर-हान व्यक्ति की प्रतिभा से, (ii) बुद्धिमत्ता के गहनतर क्षेत्रों से जिनमें अवलोकितेश्वर ने अपने भीतर ही पाँच स्कन्धों को रिक्त पाया (आर्य अवलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो..स्वभावशून्यान पश्यति स्म अर्थात् शून्यता पराजगत की सुगन्ध है) और (iii) तीसरे, कि और भी बहुत-सारे विश्व हैं, जहाँ परिभाषाएँ लुप्त हो जाती हैं और अपरिभाषित का शासन चलता है। यह नई जागरूकता थी जिसने शास्त्रीय कन्फूशियाई चीन-केन्द्रिक बौद्धिकता बहुकेन्द्रिकता से सम्पन्न बनी, गैर-हान बर्बर चुम्बकीय केन्द्र के रूप में उभरा, पार्श्ववर्ती भाग स्वाधिकार से अलग-अलग विश्व बन गए, केन्द्रीय राज्य सुखावती के पश्चिमी स्वर्ग से तुलनीय हो गया। सुखावती उतना ही स्पष्ट बन गया जितनी ईरानी पार्थियन सुन्दरियाँ जो अपनी कंचनशील गतियों की आनन्दमयी

सुकुमारता में नृत्य किया करती थीं। बौद्ध धर्म विजय के अग्नि समान रण तुरंगों, समृद्धि से लदे सार्थों, जीवन की वासनामयी सुन्दरता, और मस्तिष्क के प्रकाशमान होने से सम्बद्ध हो गया।

खोतन की स्थापना के चारों वर्णन (दो चीनी और दो तिब्बती या भोट) उसे तीसरी शताब्दी ई. पू. में सम्राट अशोक के पुत्र और उसके मन्त्रियों के आगमन से सम्बद्ध करते हैं। प्रथम शताब्दी ईस्वी के खोतन की प्राचीन राजधानी योत्कार से मिले सिक्कों के एक संग्रह में सिक्कों पर चीनी मुद्रालेख और खरोष्ठी लिपि में प्राकृत मुद्रालेख लिखे मिले हैं। राजकीय रीतिरिवाजों के लिए खोतन से चीनी हरितमणि (Jade) मँगाया करते थे। हरितमणि के लिए प्रयुक्त भावचित्र यू 玉 शुद्धता कुलीनता और सुन्दरता का रूपक है। हरितमणि स्त्री (jade woman) 玉人 का अर्थ सुन्दर स्त्री होता है। इस वाक्यांश का संकेत खोतन की ईरानी महिलाओं की ओर है जो अपनी हरितमणि सी कोमल त्वचा सहित हरितमणियों के साथ राजदरबार में आई होंगी। चीनी लोग मध्य एशिया के सरिण्डियन नृत्य और संगीत तथा इन सुन्दरियों पर मुग्ध थे। चाऊ जितने प्राचीन काल से ही, जो 1027-256 ई. पू. है, चीनियों ने अपना संगीत पश्चिमी बर्बरों से प्राप्त किया था और विशेष अवसरों पर अपनी राजनैतिक शक्ति की शेखी बघारने के लिए वे उसे बजवाया करते थे। स्वर्ग की ही उपज, हरितमणि भी खोतन से चलकर चीन में आई। खोतन बौद्ध धर्म और संस्कृत ग्रन्थों का केन्द्र होने के लिए भी विख्यात था। चीनी शब्द 'धर्म मंगाना' का अर्थ संस्कृत सूत्रों का प्राप्त करना ही था उदा. चीनी भिक्षु चू शिह हिसड ने लोयाड् से खोतन की कठिन यात्रा पंचविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता की प्रति प्राप्त करने के लिए की थी। पाँचवीं शताब्दी में आठ चीनी भिक्षुओं ने पावन ग्रन्थों की खोज करने के लिए यात्रा की। वे प्रति पाँच वर्षों के बाद होनेवाले पंचवार्षिक उत्सव के समय खोतन पहुँचे। यहाँ मध्य एशिया के सभी भागों से आए हुए श्रेष्ठ भिक्षुओं ने अपने प्रवचन कथाओं से अलंकृत करके दिए। चीनी भिक्षुओं ने वापस चीन लौटते हुए उन प्रवचनों को तुर्फान में, 445 में, 'विद्वान और मूर्ख की कथा' शीर्षक के अन्तर्गत गुम्फित किया। इस ग्रन्थ का तिब्बती (भोट) और मंगोल भाषाओं में अनुवाद किया गया और लामा जगत में इसे दूर-दूर तक लिखा-पढ़ा गया। दादन उइलिक की गुहा II के भित्तिचित्र में बने हारिति चित्र के लक्षण चीन-खोतनी हैं।

221 ई. पू. में चीन में केन्द्रीय राज्य दृढ़ बन जाने के उपरान्त उसके पश्चिमवत् खोज पड़ताल ने और विस्तार ने बौद्ध धर्म को उन देशों में प्रवेश दिलाया। खिवाड् नुओं के आक्रमण चीन के कृषि अधीन सीमा प्रदेश के लिए स्थायी खतरा बने हुए थे। चीनियों ने उनसे भी आगे के क्षेत्रों के लोगों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर उनके पृष्ठ प्रदेश में अपने आधार केन्द्र स्थापित किए। खिवाड् नुओं की सरल युद्धप्रवृत्ति को विगाड़ने के लिए उन्होंने चीनी वैभवपूर्ण जीवन की वस्तुएँ वहाँ निर्यात

कीं। खोतन जानेवाले मार्ग पर, जहाँ-जहाँ सांस्कृतिक सम्पर्क होता गया, वहाँ हान सैनिक बना दिए गए। पहली सहस्राब्दी का अन्त दसवीं शताब्दी में जाकर हुआ जिसमें बौद्ध धर्म सोङ् वंश के समय बड़े परिमाण पर छपाई कार्यों को लेकर आधुनिक युग के समारम्भ में प्रविष्ट हुआ। पहले बौद्ध त्रिपिटक का कार्य 971 में चेङ्डू में शुरू हुआ और वह लगभग 1000 वें वर्ष में तुङ् हुआइ में पहुँचा।

बौद्ध धर्म के महान केन्द्र के रूप में काबुल को चीनी भाषा में सूत्रों का अनुवाद कराने के लिए सर्वाधिक संख्या में विख्यात बौद्ध आचार्यों को चीन भेजने का अप्रतिम श्रेय प्राप्त है। सबसे पहले वहाँ पहुँचनेवाला आचार्य था गौतम संघदेव जो 383 ई. में चाङ् आन पहुँचा और वहाँ उसने आगमों और अभिधर्म ग्रन्थ अनूदित किए। काबुल के संघभूति ने 381-385 ई. में बुद्ध-चरित का अनुवाद चीनी में किया। चीनी भिक्षु शिह-चि-होन संस्कृत ग्रन्थों की तलाश में काबुल आया। काबुल के राजा का पुत्र गुणवर्मन 431 ई. में नानकिङ् पहुँचा और वहाँ उसने दस ग्रन्थों का अनुवाद किया।

कानसू प्रान्त के मरुद्यान भूमि नगर शानतान में ऊँचा खड़े फा ता स्तूप में अशोक का एक बाल सुरक्षित है। तुन-हुआइ की मो गाव गुहाओं में ताङ् वंश का एक पाषाण अभिलेख बताता है कि प्रथम गुहा का निर्माण लो त्सुन ने 366 ई. में कराया और इसे 'अनुपम उच्चता गुहा' नाम दिया। हो सकता है कि इसके निर्माण की प्रेरणा बामियान की विशालकाय बुद्ध प्रतिमाओं से मिली हो। उत्तरी वेई के सम्राट हान वंशीय नहीं थे। इन बर्बरों ने चीनियों को अपनी सांस्कृतिक परमोच्चता भव्य गुहामन्दिरों युन-काङ् की विशालाकृति प्रतिमाओं की भव्यता और बौद्ध सूत्रों की महान विचारधारा से प्रदर्शित की। चीनियों की चीनकेन्द्रित दृष्टि में एक बार फिर से अन्य सांस्कृतिक विश्वों की उपस्थिति की नई जानकारी मिलने से परिवर्तन हुआ, जो उनकी दुनिया से कहीं अधिक गहन और कहीं ज्यादा सूक्ष्म थे। युन-काङ् की 16-20 गुहाओं की पहली संश्रेणी का निर्माण उत्तरी वेई शासकों के लिए तान्-याओ के पर्यवेक्षण में 460 में शुरू हुआ और ये बामियान का स्मरण दिलाती हैं। बौद्ध भास्कर्य और चित्रकला ने चीन को एक नया विस्तार दिया जहाँ शवाधियों पर बनाए उभरवा चित्रों की जगह चेहरों पर मुस्कान लिए दमकती देव आकृतियों, करुणा की गम्भीरता लिए सूक्ष्मता और कमनीयता से प्रवाहित होती रेखाओं में गिरते वस्त्रोंवाली युवा विशेषताओं ने ले ली। बौद्ध कला बहुत तेजी से चीन के विस्तृत क्षेत्रों को दैवी कृपा और गरिमा से, सम्पन्न बनाती हुई जो कुलीन वर्ग और शिक्षितों के साथ-साथ, देश के निम्नतम और हीनतम रूपों के लिए उपलब्ध थी, फैल गई। तियेन्-लुङ्-शान की गुहाएँ जो 750 से पहले की हैं, उत्तरगुप्त शैली के प्रभाव दिखाती हैं।

490 ई. में हसियेह-हो ने चित्रकला के 'छह पक्ष' स्थापित किए। ये चीनी कला समीक्षा का कसौटियाँ बने हुए हैं। इनमें कामसूत्र में बताए चित्रकला के छह अंगों (रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य योजना, सादृश्य, वर्णिका भंग) की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। इनसे चित्रकला को जीवन्त लय और ऐसा वातावरण प्राप्त हो जाता है जो गतिशील और सजीव होता है और मात्र बाहरी पक्ष दिखानेवाला होने से उसकी

अस्थियों (अनिवार्य संरचना) और सारतत्त्व प्रदान हो जाता है। इसमें दैवी तत्त्व और मानव मिलकर एक हो गए हैं, मन में उठनेवाली लहरियों में विलीन हो गए हैं।

सातवीं और आठवीं शताब्दियों में चीनी लोग संस्कृत ग्रन्थों से मिलनेवाले ज्योतिष शास्त्र के नए ज्ञान, पंचांग की जानकारी और गणित शास्त्र से मन्त्रमुग्ध थे जिन्हें पोलोमेन या ब्राह्मण ग्रन्थ कहा जाता था। भारतीयों को राजकीय ज्योतिर्मण्डल के अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था उदाहरणतः 650 ई. के आसपास कश्यप इसका प्रमुख था। यह एक विरोधाभास ही है कि चीन के प्राचीन ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी अंशों का सबसे बड़ा संग्रह गौतम सिद्ध प्रणीत है। उन्होंने ही त्रिकोणमिति के प्रारम्भिक रूप और अन्य कई नवीनताओं और शून्य के संकेत को भारत से लाकर चीन में प्रविष्ट किया। चीनियों के लिए संस्कृत राज्यकर्म, युद्ध की पैतरेबाजी और ताशकन्द से वियतनाम तक के नगरों की नक्षत्रीय स्थिति का सर्वेक्षण करने की तथ्यपरक विज्ञानों की भाषा थी। ताङ् वंश के एक सम्राट ने चम्पा (आधुनिक वियतनाम के सागर तट पर अवस्थित) के राजा के विरुद्ध एक सैनिक मिशन युद्ध में मिली लूट के माल स्वरूप 1350 संस्कृत पाण्डुलिपियों का उसका पुस्तकालय चीन लाने के लिए भेजा।

अमिताभ के पश्चिमी स्वर्गलोक अंकन में नृत्य, संगीत और संगीतवाद्य देदीप्यमान हैं। सुखावती स्वर्गलोक में नृत्य करते देवदूतों का चित्रांकन पिछली दो सहस्राब्दियों से पूर्वी एशिया में सर्वत्र किया जाता चला आ रहा है। तुन-हुआइ (चीन की अजन्ता गुहाएँ) के सबसे अच्छे कुछ भित्तिचित्रों में कम्पन करती गतियों की आनन्दमयी सुकोमलता वाले नृत्य करती देवियों के चित्र आते हैं। नृत्य करते ये देवदूत भारतीय हैं क्योंकि इन्होंने अपने शीर्ष भाग में कोई वस्त्र धारण किया हुआ नहीं है। तुन-हुआइ गुहाओं में तीन प्रकार के स्त्री परिधान देखने को मिलते हैं (i) चीनी महिलाओं का झूलता वस्त्र समुदाय (ii) मध्य एशियाई सुन्दरियों के कसे हुए वस्त्र, और (iii) भारतीय सुन्दरियों के नग्न शरीरों की ऐन्द्रिक मनोहरता जो दर्शकों को अपने दमकते हुए सौन्दर्य जगत में साथ आ मिलने को बलाते लगते हैं।



8वीं-9वीं शताब्दी की तुन-हुआइ गुहा 113
में सुखावती के नृत्य दृश्य का रेखांकन

चीन में छपाई का आरम्भ उसे संस्कृत की ओर पीछे ले जाता है। सबसे पहले छपे हुए पन्ने पर मध्य में प्रतिसरा देवी का चित्र बना है जिसके चतुर्दिक संकेन्द्रित किए संस्कृत अक्षरों में मन्त्र छापे गए हैं। इस पर 757 ई. तारीख पड़ी है और इसका उत्खनन 1944 में बैजिङ् के निकट एक कब्र से किया गया। छपाई करने की प्रौद्योगिकी में बौद्ध त्रिपिटक का प्रकाशन करने की भारी-भरकम परियोजना से बहुत तीव्रगति से विकास हुआ। चूँकि विस्तृत त्रिपिटक की छपाई करने के लिए बहुत अधिक मात्रा में कागज की जरूरत थी, इसलिए कागज निर्माण उद्योग भी इतना अधिक फलाफूला कि कागज का उपयोग दुनिया में सभी जगह किया जाने लगा।

प्राचीनतम ज्ञात पाण्डुलिपि जिस पर कालिदास के तीन महाकाव्यों के श्लोक लिखे मिले हैं चीन के पु-आन मठ में सुरक्षित है। चीनी ध्यान सम्प्रदाय के महान आचार्य पाओ चाङ् ने इसे 1057 ई. में भारत से प्राप्त किया था।

बोधगया, भारत में मिलनेवाले पाँच चीनी अभिलेख, जो भारत से मिले एकमात्र चीनी अभिलेख हैं, 10/11वीं शताब्दी में लगाए गए थे, और इन्हें भारत के पवित्र स्थानों की अभ्यर्थना करने के लिए चीनी सम्राट द्वारा भेजे गए एक मिशन ने लगाया था।

7 जून 1988 को क्रिस्टियों ने एक नील-श्वेत चीनी पात्र विक्री के लिए प्रस्तुत किया जिसे 209,000 पौण्ड मूल्य देकर ताईवान के श्री सी. सी. तेङ् ने खरीदा। यह पात्र मिङ् सम्राट हसुआन-ते के निजी उपयोग के लिए बनाया गया था, जिसने 1426-36 तक शासन किया। इस पर संस्कृत में आशीर्वाद श्लोक अंकित है और इस रीतिगत पात्र पर चतुर्दिक बीजाक्षर बनाए हुए हैं

रात्रौ स्वस्ति दिवा स्वस्ति स्वस्ति मद्ध्यनदिने स्थिते ।

स्वस्ति सर्व अहोरात्रं त्रिरत्नानि भवन्तु यः ॥

अयोध्या की एक राजकुमारी प्रतिमाओं, सूत्रों और श्रमणों की तीन निधियाँ लेकर जलयान द्वारा भारत से सन् 48 में कोरिया में किम्हे पहुँची। वह कोरिया के प्रथम राज्य करक की संस्थापिकी बनी। उसी ने प्रथम राष्ट्रीय राजधानी स्थापित की और उसका नाम गया रखा। आदिवासी अर्थव्यवस्था से उभरकर कोरिया राज्य बना। समुद्र के प्रति कृतज्ञता स्वरूप जिसने महारानी को सकुशल चलकर तट पर लगने दिया महाराजा ने हेऊंसा में 'समुद्र कृपा मन्दिर' निर्माण कराया जो पुनसोड्सान पर्वत शिखर के निकट आज तक यथावत् विद्यमान है।

कोरिया में बौद्ध धर्म विधिवत् त्रिराज्यों के दौरान प्रविष्ट हुआ। कोगुर्यों ने इसे 372 में ग्रहण किया, पेकचे ने 384 में तथा सिल्ला ने 527 में। भारतीय आचार्य मल्लानन्द बौद्ध धर्म को पेकचे में 384 में लेकर आए। इसने त्रिराज्यों को नया अर्थ प्रदान किया, वे सभ्य बने। अपनी प्रथम ऊर्जा और ताजगी में देश वरदानों से भर

उठा, कला को पोषण मिला, शिक्षा प्रसार हुआ, सड़कें बनी, विश्रामालय स्थापित हुए, दान-पुण्य प्रेरित हुआ तथा हजारों तरह से सुख-सुविधा में वृद्धि हुई। इससे सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था भी और अधिक सुस्पष्ट और प्रभावशाली बनी।

535 में प्रथम बौद्ध महाविहार की स्थापना की गई जिसे पुलगुक्सा नाम दिया गया। यह कोरिया का अब तक चले आ रहे प्राचीनतम बौद्ध विहारों में से है जो शताब्दियों से कोरियाई जीवन लय को विनिश्चित करता आया है। इसे सन्तुलित गरिमा और शान्त स्वभाव का स्मारक बनाने के लिए अति कुशल शिल्पियों को निर्माण करने के लिए बुलाया गया। आज दिन तक, नवविवाहित युगल अपना दाम्पत्य जीवन पुलगुक्सा का आशीर्वाद प्राप्त करने के उपरान्त ही आरम्भ करते हैं।

मैत्रेय के शिष्यों की ध्यानरत प्रतिमाएँ कोरियाई राज्य के एकीकरण काल की समकालीन हैं। मैत्रेय सम्प्रदाय सिल्ला दरबार के कुलीन युवा योद्धाओं में प्रचलित था जिनकी एक भ्रातृमण्डली 'नागपुष्प के सुवमसित अनुयायी' नाम से बनी हुई थी। इस नाम का संकेत नागपुष्प वृक्ष की ओर है जिसके नीचे बोधिसत्त्व मैत्रेय ध्यान लीन होकर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। त्रिराज्यों तथा संयुक्त हुए सिल्ला राजवंश काल में इन योद्धाओं का शासन में बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त था। राष्ट्रीय एकता बनाए रखना इन्हीं का दायित्व था। सिल्ला के बौद्ध राज्य ने त्रिराज्यों का एकीकरण सम्पन्न किया और इतिहास में पहली बार कोरियाई राष्ट्र-राज्य बना। तब से, कोरियाई बौद्ध धर्म देश की नियति और सुरक्षा बना हुआ है। भिक्षु वोल्कवाङ् ने राष्ट्र की विशिष्टता निर्धारित करने के आधार स्वरूप पाँच सांसारिक आदेशों को रूप दिया।

कोरियाई भिक्षु, हायचो, सोलह वर्ष की युवा उम्र में भारतीय आचार्य वज्रबोधि का शिष्य बना। तदन्तर, समुद्रीमार्ग से उसने भारत की यात्रा की और वहाँ से मध्य एशिया होता हुआ दिसम्बर 727 में वह स्वदेश लौटा। समरकन्द में उसने एक ऐसे बौद्ध मठ का उल्लेख किया है जिसमें केवल एक भिक्षु बचा रह गया था। हायचो इस्लामी मारकाट से मठों और भिक्षुओं को बरबाद कर दिए जाने से पूर्व रेशम मार्ग (अधिक अच्छा नाम रहेगा सूत्र मार्ग) से होकर तीर्थ यात्रा करनेवाला अन्तिम व्यक्ति था। उसने अपने यात्रा वर्णन में, जो उसके पूर्ववर्ती प्रसिद्ध तीर्थ यात्री ह्यून त्साङ् के यात्रा वर्णन की बराबरी का है, इस घायल समय का विस्तृत वर्णन किया है।

मोंगोल आक्रमणों से सुरक्षा के लिए कोरियाई महाराजा ने त्रिपिटिका कोरियाना के 81, 258 काष्ठ खण्ड उत्कीर्ण कराए। 1251 ई. में पूरे हुए ये काष्ठ खण्ड आज तक अच्छी हालत में गया पर्वत पर बने हेऊंसा मठ में सुरक्षित हैं। ये राष्ट्रीय एकता की गरिमा प्रतिबिम्बित करते हैं। राष्ट्र की प्रतिरक्षा के लिए किया गया वह त्रिपिटक कार्य सात शताब्दी पूर्व किया गया कोरियाई प्रौद्योगिकी का चमत्कार है। ज्यों-ज्यों सन्ध्या का झुटपुटा घाटियों और पर्वतों पर फैलकर उन्हें अँधेरे में धूमिल बनाता जाता है, मठ की खिड़कियाँ एक-एक कर भिक्षुओं द्वारा दीयों से प्रकाशित होती जाती हैं जो 108 तृष्णाओं के सागर को पार कर बुद्ध ज्ञान प्राप्ति की तैयारी में लग जाते हैं।

कोरिया आनेवाले अन्तिम भारतीय आचार्य चिकोङ् (ध्यानभद्र) थे। 1340 वाले दशक में वे कोरिया पहुँचे और वहाँ नालन्दा विहार के नमूने उन्होंने जुनियर रॉक विहार स्थापित किया। इसकी नींव आज भी सोल (Seoul) के निकट देखी जा सकती है। उन्होंने कोरियाई लोगों को मोंगोल आधिपत्य से मुक्ति और शान्ति दिलाने के लिए विशाल घोनबोक्सा घण्टे पर संस्कृत धारणी मन्त्र लिखे। जुनियर रॉक विहार का 1378 का एक अभिलेख ध्यानभद्र के जीवन और कार्यों का वर्णन करता है और बताता है कि कांची का राजा उसका भतीजा था। यह अभिलेख 14वीं शताब्दी में भारत के बौद्ध धर्म की झाँकी भी उपलब्ध कराता है जो दक्षिण में कांची से लगाकर उत्तर में जालन्धर तक फैला हुआ था। सत्तू तैयार करने की ध्यानभद्र की लगाई चक्की अभी तक इस विहारस्थली में विद्यमान है।

1446 में ऋषितुल्य सम्राट सेइजोङ् ने कोरियाई वर्णमाला और सचल मुद्रों से छपाई करने का विकास किया। हांगुल अर्थात् 'उचित लेखन' नाम से यह वर्णमाला आज तक प्रचलित है। डॉ. केई वोन चुङ् प्रिंसटन विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किए गए अपने शोध प्रबन्ध में कहते हैं कि कोरियाई वर्णमाला संस्कृत वर्णमाला के सिद्धान्तों पर बनाई गई है। नई वर्णमाला के आविर्भाव से पढ़ना-लिखना बहुत अधिक संख्या में लोगों को सुलभ हो गया।

सोल में विश्व का एकमात्र बौद्ध प्रसारण केन्द्र है। 'घास सुगन्ध' नामक एक भोजनालय आचार्य ध्यानभद्र के पाकशास्त्र की याद दिलाता है। यहाँ *मधुयष्टि* (हिन्दी में *मुलेठी*) की चाय पीने को दी जाती है।

1991 में कोरिया ने पोपचूसा विहार को मैत्रेय की, विश्व की सबसे बड़ी कांस्य प्रतिमा समर्पित की। 100 फुट ऊँची यह प्रतिमा राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए कोरियाई लोगों की आकांक्षाओं का मूर्तन करती है। पोपचूसा का निर्माण 553 में हुआ। दो शताब्दी बाद, 776 में, भिक्षु यूल्सा ने 40 फुट ऊँची स्वर्णमण्डित कांस्य मैत्रेय प्रतिमा यहाँ राष्ट्रीय समृद्धि और लोगों की एकता के लिए लगवाई। अप्रैल 1991 में नेत्रोन्मीलन समारोह के समय स्वच्छ आकाश में एकाएक तीन इन्द्रधनुष प्रकट हो गए, "क्या यह इस बात का सुसंकेत नहीं है कि यदि हमारे हृदय में सत्यनिष्ठा रहे तो हम सब स्वर्ग तक की परिचालित कर सकते हैं? यदि हम अपने-अपने हृदय मैत्रेय की स्थापना कर लें तो इस धरती पर रहनेवाले सभी प्राणियों का जीवन कमल पुष्प बन जाएगा और हमारे आसपास का यह संसार भी आनन्द सागर हो जाएगा (महास्थविर यू)।

जापान में बौद्ध धर्म आधिकारिक रूप से 552 में प्रविष्ट हुआ जब पेकचे (कुदर) के राजा ने भगवान बुद्ध की एक स्वर्णमण्डित कांस्य प्रतिमा और कुछ सूत्र वहाँ भेजे। नए बौद्ध संघ के साथ कितनी ही धर्म निरपेक्ष प्रौद्योगिकियाँ भी वहाँ आईं,

लेखन, प्रशासन, वस्त्र बुनाई, धातुविज्ञान, पंचांग और वास्तुकला। शोतोकु तावशी (574-621) को उचित ही जापानी सभ्यता का निर्माता कहा जाता है। नए संघ को धन्यवाद देने के निमित्त उसने 593 ई. में ओसाका में शितेन्नोजी का निर्माण कराया जो उस युग के वास्तुकला कार्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। चार लोकपालों (शितेन्नो) को समर्पित यह मन्दिर राष्ट्र-राज्य के रूप में जापान के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं की एकता का प्रतीक है। उसी ने 604 ई. में 17 धाराओंवाला प्रथम लिखित संविधान प्रचलित किया जिसमें त्रिरत्न ने प्रशासन को मानवीय चेहरा प्रदान किया। उसने होक्के (सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र), युइमा (विमलकीर्ति निदेश) और शोमान (श्रीमाला सूत्र) पर भाष्य लिखकर जापानी साहित्य लेखन का भी श्रीगणेश किया। अर्द्धशताब्दी के अल्प काल में ही जापान ने एक चमत्कार ही कर डाला। उसका साहित्य और उसके राजमहल प्रायद्वीपीय चीन की टक्कर लेनेवाले बन गए। राजकुमार शोतोकु ने आदिवासी प्रतिस्पर्धाओं का अन्त करके उनकी जगह जापान को बुद्ध क्षेत्र बना केन्द्रीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत ला दिया तो जापान एक राज्य बनकर उभरा।

राजकुमार शोतोकु द्वारा स्थापित बुद्ध विहारों में से होर्युजी अर्थात् धर्मवर्धन विहार आज भी विश्व के प्राचीनतम काष्ठ निर्मित विहार के रूप में अक्षुण्ण खड़ा है। इसका कोण्डो या स्वर्णमण्डप भित्ति चित्रों से अभिमण्डित है जिनकी शैली भारतीय शैली से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। यह सातवीं शताब्दी की कलात्मक उपलब्धियों को प्रतिबिम्बित करती है। वर्ष 643-46, 648-649 और 657-661 में चीनी राजदूत वाङ्-हूसुआन-त्से के साथ आए सदस्यों ने भारत के विहारों की दीवारों पर बने भित्तिचित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार कीं। बाद में ये चित्र 40 (गुच्छकों) में संकलित किए गए। इनमें से कुछ गुच्छक कोरियाई कलाकार होनजित्सु जापान लेता गया और वे ही होर्युजी विहार के भित्तिचित्रण के लिए मॉडल बने। होर्युजी के बुद्ध और बोधिसत्त्वों में जिन पर शताब्दियों की काई जमी हुई है, रेखा स्तर और अलंकरण की विशिष्ट शुद्धता दिखाई पड़ती है और उसके साथ अधिक अमूर्त देवताओं में मानवता को जीती-जागती हुई देखने की प्रबलेच्छा भी मिली हुई है। होर्युजी विहार से ही गुप्तकाल की लिपि में उष्णीषविजय धारिणी की अधिकांश प्राचीन संस्कृत पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं।

छठी शताब्दी जितने समय पूर्व में काताओका ग्राम में एक भारतीय योगी भिक्षाटन करके ही रहा करता था। शोतोकु वायशी ने उसपर एक कविता रची है। सातवीं शताब्दी के मध्य में चीन होता हुआ धर्मबोधि जापान आकर होक्केजस में बस गया। उसके पास सहस्रहस्त कान्नोन की छोटी-सी प्रतिमा थी। उसने सम्राट को भलाचंगा स्वस्थ बना दिया जबकि सभी राजकीय वैद्य उसे रोगमुक्त करने में विफल मनोरथ रहे थे। 651 में त्रिपिटक उत्सव (दायजो) आरम्भ किया।

जापानी राज्य को बौद्ध धर्म के रूप में ओजस्वी स्थायित्व लानेवाला प्रभाव प्राप्त हुआ। तोवाइजी का दायकुत्सु जापानी संसाधनशीलता और प्रौद्योगिकी का शीर्षबिन्दु है। इसकी प्राण प्रतिष्ठा भारतीय बोधिसेन ने की जो 773 में ओसाका पहुँचा। वह दायआन जी में रहकर संस्कृत शिक्षण करता था जिससे जापानी भाषा की आवश्यकताओं के उपयुक्त ध्वनि प्रणाली से मिलने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अपने जापानी नाम *वीवा* रूप में *वीणा* सर्वदा सरस्वती का अविच्छेद्य लक्षण रही है। आज की प्राचीनतम बात *वीवा* शोसोइत भण्डार में सुरक्षित है, जो 757 ई. की है।

799 ई. में एक भारतीय समुद्र में बहता-बहता मिकावा प्रान्त में किसी जगह आकर किनारे लगा। बीस वर्षीय इस युवा के पास तन ढकने को तृणकोट और छोटे कच्चे के अलावा और कुछ नहीं था। वह ऐसे क्षेत्र में भटक गया था जहाँ उसकी बात समझनेवाला कोई नहीं था। वर्षों बाद जब वह थोड़ी-बहुत जापानी भाषा समझने लगा तो उसने बताया कि मैं भारत से आया हूँ। उसके पास कपास (रुई) का बीज था। वह नारा के कावा देश मन्दिर में रहता था। निहोन-कोकी और रुईजु कोकुशी नामक दो प्राचीन इतिवृत्त संग्रह बताते हैं कि उसी ने कपास की खेती करनी शुरू कराई जो आगे चलकर वहाँ वस्त्रनिर्माण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। सूत के लिए प्रयुक्त जापानी शब्द *वट* या *हट* संस्कृत शब्द *वट* से निष्पन्न है।

नौवीं शताब्दी आते-आते जापानी जीवन बौद्ध सभ्यता के सात्मीकरण से पूर्णतया रूपान्तरित हो चुका था। द्वीपीय वातावरण में महान प्रायद्वीपीय संस्कृति को अपना पूर्ण विकास कोबो दायशी (774-835 ई.) में प्राप्त हुआ जिसने धर्म के शुद्धतम स्रोतों का पान करने के लिए चीन की यात्रा की। कोबो दायशी का चलाया नया सम्प्रदाय, शिंगन या मन्त्रयान देश के नैतिक अन्तःकरण के लिए नई चीज था। इसने पूर्वनिर्धारित किए कुछ वर्गों के लिए सीमित के विपरीत संभावी बुद्धत्व प्राप्ति का विशेषाधिकार सभी के लिए खोल दिया। जापान के सांस्कृतिक विकास की वह असाधारण प्रतिमा बन गया। सबसे पहले उसी ने सामान्य जनता के बालकों के लिए विद्यालयों की स्थापना की। इससे पूर्व शिक्षा संस्थाएँ केवल पाँचवें सामाजिक पदक्रम से ऊँची श्रेणियों के लिए खुली थीं। यह ऐतिहासिक प्रजातन्त्रीकरण सम्पन्न करने के लिए उसने पचास अक्षरों (ध्वनियों) : अ इ उ ए ओ, क कि कु के को आदि वाली जापानी काना अक्षरमाला विकसित की जो संस्कृत वर्णमाला पर आधारित थी। यह वर्णमाला सामान्य जनों में शिक्षा फैलाने के लिए थी। नई वर्णमाला जापानी सभ्यता के विकास में किया गया क्रान्तिकारी कार्य था : जो पहले पूर्वनिर्धारित सीमित लोगों का ही विशेषाधिकार था, उसे अब सभी लोगों का संभावी अधिकार बना दिया गया था। पूरी वर्णमाला को एक कविता में पिरो दिया गया था जिसमें प्रत्येक अक्षर केवल एक ही बार आता था। इस कविता को *इरोह* कहते हैं यह महापरिनिर्वाण सूत्र पर आधारित है।

जापानी लोग भारत की तीर्थयात्रा करने को सदा से लालायित रहे हैं। 818 ई. में कोंगो सम्मई (वज्र समाधि) चीन होता हुआ भारत पहुँचा। उसने बहुत यथार्थपरक पर्यवेक्षण लिखे हैं कि नालन्दा के भोजनालय में लाखों मक्खियाँ झुण्ड बना भिनभिनाती रहती थीं परन्तु जब भिक्षु भोजन करने बैठते तो सबकी सब अदृश्य हो जाया करती थीं। 850 वाले दशक में होडो ने शतदिवसीय ध्यान आरम्भ किया। 70वें दिन एक रूपमती स्त्री कमरे में आई और वह उसके प्यार में पड़ गया। लज्जित होकर, वह चीन यात्रा पर चल पड़ा और वहाँ से अपने पाप का प्रायश्चित्त करने भारत में गृध्रकूट पहुँचा। भिक्षु म्योए शोइन (1063-1122) भारत नहीं आ पाया। उसने अपने मठ के सामने की पहाड़ी को संस्कृत नाम प्रागबोधि और उसके पास बहती जलधारा को नेरंजना नाम देकर ही आत्म सन्तोष कर लिया। तोकुगावा युग के महान अवतंसक विद्वान होतन ने यह मानकर कि यहाँ का जल बौद्ध धर्म की मातृभूमि के तटों तक फैला हुआ है, तट पर जा समुद्र जल में अपने चरण धोए।


क्योतो के निकट स्वर्ण मण्डप (किंकाकु जी) है जहाँ जैन भिक्षु बने आशिकागा शोगुन योशिमित्सू का आश्रम था। वह सरोवर में अवस्थित बहुत सुन्दर मण्डप है जिससे रोकुओन जी मन्दिर की शोभा बहुत बढ़ जाती है। यहाँ भवसागर का परिदर्शन करता ऊपर उठता निर्वाण का स्वर्गीय मण्डप उभरता है। यह अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर की स्मृति कराता है। सरोवर के मध्य में बना हुआ किंकाकु जी मन्दिर आदिम जलों से निकल रहे ब्रह्मा हैं।

इकेबाना की अचरजभरी कला, जिसका अर्थ जल में सजीव पादपों को सजाना होता है, पुष्पों को जीवित प्राणियों की तरह प्यार करना और उनकी देखभाल करना है। पुष्प विन्यास कर चुकने के बाद जापानी उनके सामने नमन करते हैं। सौन्दर्य रचना करना स्वयं जीवन का सार ही है। उनके साथ मानव हृदय की ऊष्मा मिली रहती है जिसके द्वारा हम विश्व हृदय को अभिव्यक्त करते हैं। जापानी परम्परा उन भारतीय भिक्षुओं की बात कहती है जिन्होंने “विश्व प्रेम में भरकर तूफानों में क्षतविक्षत हुए अथवा कड़ी धूप में कुम्हला गए पौधों को आदिम जलों से निकालकर सर्वप्रथम उन्हें जीवित बचाए रखने के प्रयत्न में करुणापूर्वक उनका परिपालन किया था।”

भारत की सादगी जापानियों की भव्यता बन गई अर्थात् रूप के विस्तार को न्यूनतम पंक्तियों में अभिव्यक्त कर देना। यह निपट निर्धनता सरल रूप ‘संन्यास’ का सौन्दर्यात्मक आशंसन है। हाइकू एकान्तता, न्यूनतम शब्दों का अवतरण है। भारत की धूलिमय पर्णकुटी जापान में ध्यान करने की ऐसी आश्रय स्थली बन गई जहाँ धूल का एक भी कण नहीं बचा। सफेद रेत के नग्न विस्तार वाला रयोआनजी उद्यान, जिसमें पत्थर स्थापित किए गए हैं, हमें वापस सागर अर्थात् भवसागर ले जाता है। यह अत्यधिक अमूर्त स्मारक, कारे सैन्सुई, शुष्क भू दृश्य उद्यान, उत्तर पन्द्रहवीं

शताब्दी में आकल्पित किया गया। छोटी, चट्टानी प्यूजी पहाड़ियों में *प्यूजी* का अर्थ दो नहीं, यानी अनुपम, भेदभाव के अन्तवाली, *अद्वय* होता है ये उसके शाब्दिक स्तर और सांकेतिक स्पर्शरिखा दोनों हैं, जो माया का सागर पारकर, अस्तित्व के *भवसागर* की शुष्क रेतीली लहरों को पार करने को *सतोरी* या बोधि के तट तक ले जाते हैं।

जेन सम्प्रदाय बौद्धों के बोधि बीज से चीन और जापान की मिट्टी में, भारत की कुटी और जापान के बाँसों में भारत की जटिल विचारधारा और जापान के अनोखे कोआनों का उत्पाद है, ये सभी आत्मनिर्भरता (*जीयू*) और आत्मवत्ता (*जिई*) पर पहुँचाते हैं।

सड़क किनारे, चट्टान के सपाट, गोलाए आधार पर एक अण्डाकार चट्टान खड़ी है जिस पर संस्कृत अक्षरचित्र रो  बना है। संस्कृत अक्षर का निहितार्थ गहरे स्तर हैं। मिनी पहने, केश काले रंगाए ओर हो सकता है गोलाया नारी रूप लाने के लिए स्टायरीन अन्तःक्षेपण लगाए एक आधुनिक जापानी बाला पास आकर रुकती है और *नवग्रहों* को नैवेद्य स्वरूप कागज के टुकड़े पर उर्रक्तायीतू रंग शिष्टतापूर्वक अर्पित कर देती है। रो *नवग्रह पूजा* का सांकेतिक बीजाक्षर है। ये हैं संस्कृति के जमे हुए कुछ स्तर जो अस्तित्व और चेतना के विभिन्न स्तरों की ध्वनियाँ सुनाते हैं।

हमारे अपने ही समय में जापान के ओकाकुरा तेनशिन आकर महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के घर 1902 में टिके थे। इससे भारतवर्ष में सांस्कृतिक पुनर्जागरण आरम्भ हुआ। भारत के महाकवि से हुई वार्ताओं के उपरान्त तेनशिन ने अपना प्रबन्ध 'दि आइडियल्स आफ दि ईस्ट' (पूर्व के आदर्श) संघनित किया। आधुनिक भारतीय चित्रकला के अग्रदूत, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल बोस आदि जापानी तूलिकाएँ और रंग प्रयोग में लाते थे और अपनी नई सृजनशीलता में उन्होंने जापानी चित्रकृतियों का निर्मल प्रभामण्डल प्रतिबिम्बित किया। इस सांस्कृतिक मुठभेड़ ने हमारी राष्ट्रीय विशिष्टता पर गहरी छाप छोड़ी। हमारे कुछ क्रान्तिकारियों ने भी जापान में शरण ली। तेनशिन के वीरतापूर्ण संघर्ष ने देश के पैर उखाड़ डालने वाले विदेशीवाद के महोत्सव में जापान के सांस्कृतिक पितृदाय को सम्पूर्ण विनष्ट हो जाने से बचा लिया। तथापि, "अपनी मानवता चाय की प्याली में जाकर मिली" शब्दों में, उन्होंने मानवता की ही बात कही है।

तो अब दक्षिणपूर्व एशिया में लौटें। सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महिन्द और पुत्री संघमित्रा को तीसरी शताब्दी ई. पू. में श्रीलंका के राजा देवानापिय तिसस के पास भेजा। उपहारों की सूची में, जैसा कि दीपवंस में बताया गया है, जिन्हें अशोक ने भेजा *नन्द्यावर्त* भी है जिसका अर्थ विवादास्पद रहा है। कोई इसे एक प्रकार की चमेली अथवा कौवे के पंजों जैसा स्वर्ण पात्र, अथवा स्वर्णपुष्प बताता है। नन्द्यावर्त वास्तुशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। मानसार 24:24 में इसे षड्भूमिक राजमहल अथवा सुप्रभेदागम, 31:103 में 36 स्तम्भोंवाला मण्डप बताया गया है। अशोक ने महिन्द के साथ

कलाकारों, शिल्पियों और चित्रकारों की अद्वारह श्रेणियाँ (शिल्पी-वर्ग) भी धर्म के प्रति कला की आकर्षित करने की शक्ति को भलीभाँति समझते हुए, भेजी थी। महिन्द की मृत्यु होने तक अनुराधापुर राजधानी में एक कला *चित्तशाला* बनाई जा चुकी थी। चित्रकला द्वारा धार्मिकता प्रेरित करना अनेक शताब्दियों तक चलता रहा। महावंश में देवानाम् तिसस के शासनकाल में 307 ई. पू. के चित्रित पात्रों (भाण्डों) का उल्लेख मिलता है। द्वितीय शताब्दी ई. पू. के एक बहुत प्राचीन समय की एक चित्रकृति राजा दुतुगेमुनू (161-137 ई. पू.) के समय की रूवनवेलि सेया में पुरावशेष-कोष्ठ से मिली है जिसमें वेस्संतर जातक प्रदर्शित है। कम्बगला गुहा (प्राचीन कुरण्डक लेण) में भी द्वितीय शताब्दी ई. पू. की कई चित्रकृतियाँ हैं जिनका उल्लेख बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग में किया है।

पाषाण दुर्ग सिग्रिया (सं. सिंहगिरि) के विश्व प्रसिद्ध चित्र राजा कस्सप प्रथम (479-497) के राज्यकाल में बनाए गए जो अपने पिता की हत्या करके सिंहासन पर बैठा था। उसने 18 वर्ष तक राज्य किया और अपनी दुखती अन्तरात्मा को भुलाने के लिए अपने को कोमलांगी स्त्रियों द्वारा घेरे हुए रखा। सिग्रिया में बनी हुई इक्कीस मदभरी स्त्री आकृतियों का अजन्ता की कला से बहुत साम्य है। बेंजामिन रोलेण्ड ने इन युवतियों की तुलना अमरावती के भास्कर्य शिल्प से ही है जहाँ से श्रीलंका ने अपनी भास्कर्य शैली प्राप्त की।

राजा कस्सप ने जिसने इसे सर्वाधिक अप्रवेश्य दुर्ग में परिवर्तित कर दिया अपने को धनधान्य के अधिपति, कुबेर से अभिन्न बताया, जिसका उस समय बहुत सम्मान किया जाता था। कुबेर का निवास कैलास पर्वत था। सिगरिया और उसके पासपड़ोस को राजा कस्सप ने, इसी पर्वत के सदृश, विशेषतः कालिदास द्वारा अपने गीत काव्य, मेघदूत में दिए वर्णन के अनुभव, बना डालने का प्रयास किया। इसकी वीथिका 500 फुट लम्बी कुण्डलाकृति की है, जो मेघदूत में बताए मेघ के जाने के मार्ग के अनुसार निर्मित की गई है जहाँ मेघ को कैलास जाते समय उत्तर दिशा में क्रौंचद्वार होकर जाने को कहा गया है। सिगरिया के दर्पण मण्डप बढ़िया पालिश महाकवि कालिदास की अप्सराओं के प्रतिबिम्बों को दर्पणों में दिखाती है। विश्व प्रसिद्ध तरुणियों को, जिस कलात्मकता से, कटि से ऊपर, बादलों पर चट्टान में उनकी स्थिति सहित दिखाया गया है, वह उन्हें मेघभूमि प्रदेश में विद्युत और मेघों को प्रदर्शित करता है, जिसके ऊपर कैलास शिखर दिखाई पड़ता है, जहाँ भगवान कुबेर निवास करते हैं। वास्तव में चट्टान का यह भाग दिसम्बर और पूर्वभाग जनवरी में बादलों से लिपट जाता है। *विज्जुकुमारी* गोरी और *मेघलताएँ* या मेघकुमारियाँ साँवली चित्रित हैं। ये आश्चर्योत्पादक चित्र अजन्ता में बने अपने अमर समचित्रों के पूर्ववर्ती हैं। ये युवतियाँ राजा कस्सप के पितृहन्ता होने के कचोटते पश्चात्ताप को शान्त करने के लिए भगवान का आशीर्वाद लानेवाली देवियाँ हो सकती हैं।

जब घटनापूर्ण इतिहास से सिगरिया बाहर निकल गया तो अनुराधापुर की बारी आई। इसी जगह रहकर राष्ट्रीय वीर नायक दुष्टगामिनी ने शासन किया। यहीं अनुविहार अथवा आलोक गुहाओं में बौद्ध ग्रन्थों को लेखबद्ध किया गया। इसी नगर के केन्द्र में पावन बो वृक्ष स्थित है जिसपर लिखित इतिहास सवा दो हजार वर्षों से भी अधिक समय का है। यह उसी बोधगया वाले वृक्ष की शाखा है जिसके नीचे ध्यान लगाकर भगवान बुद्ध ने बोधि प्राप्त की थी।

मार्च 1917 में सर जान मार्शल ने कोलम्बो संग्रहालय के कार्यकारी अध्यक्ष को पत्र लिखा था कि जल विहार पोलन्नारुआ के दो चित्रों की, जो 12वीं शताब्दी के हैं, प्रतिकृतियाँ बनवा दी जाएँ क्योंकि “हमारे पास भारत में कठिनाई से ही इस युग की कोई चित्रकृति उपलब्ध है।”

सिंहली भाषा हिन्दी, गुजराती, मराठी, बांग्ला आदि भाषाओं की पटरी पर ही चलती है। सिंहली ने यहाँ तक कि कुछ ऐसे रोचक शब्दों को भी अपने में बचाए रखा है जो आधुनिक भारतीय भाषाओं से लुप्त अथवा गत प्रयोग हो चुके हैं। संस्कृत अश्व सभी आधुनिक भारतीय उद्भवों में लगभग भुलाया जा चुका है। सिंहली में अस साहित्य भाषा और कुछ योग शब्दों जैसे असेगोण्व (घोड़ों का रक्षक), अस-हल (अस्तबल या घुड़साल) में मिलता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को समय-सन्दर्भ में समझने के लिए सिंहली भाषा का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इससे हम दो हजार से भी अधिक वर्षों में हुए विकास का अनुसरण कर सकते हैं, पहले अभिलेखों द्वारा और उसके उपरान्त साहित्यिक ग्रन्थों द्वारा। इससे हमें शब्दों का इतिहास ढूँढ़ने के लिए कालबिन्दु प्राप्त हो सकते हैं।

भारत और दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृतियों का समानांश, पाउल मूस के शब्दों में “पूर्व से देखा हुआ भारत देश है।” प्रसिद्ध चीनी लेखिका, महामान्या हान सुईन दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय उपक्रम की चर्चा चीन के वंशोंवाले इतिवृत्तों में दिए गए वर्णनों के अनुरूप करती है। वे लिखती हैं : “दो हजार वर्ष पूर्व एक रात एक देवता भारत में एक युवक के पास गया और उस युवक से जिसका नाम कौण्डिन्य था, कहा “एक कमान कहीं से ढूँढ़कर लाओ, नौका पर सवार हो और उगते सूर्य की दिशा (पूर्व) में बढ़ते जाओ।” कौण्डिन्य अगले सवेरे मन्दिर में गया, और वहाँ फर्श पर पड़ी एक कमान (धनुष) और बाणों से भरा एक तूणीर (तरकश) देखा; वह नौका रूढ़ होकर चल पड़ा और भगवान द्वारा चलाई हवा उसे हस्तिपृष्ठ समुद्र से पार करती उस तट पर ले गई जहाँ बेंत पत्र (wellow leaf), सुन्दर महारानी और खेर स्त्री योद्धाओं की नेता का शासन था। महारानी ने कौण्डिन्य को पराजित करने के लिए अपनी युद्ध-नौका बढ़ाई, परन्तु युवक ने अपने बाण चलाकर उस पर प्रहार किया, फिर महारानी ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उनका विवाह हो गया और इस तरह खेर राज्य के प्रथम वंश का जन्म हुआ।”

अतः फूनान राज्य की स्थापना ऋषि कौण्डिन्य ने की जिसने नाग महारानी सोमा से विवाह किया। इस राज्य का उल्लेख चीनी ग्रन्थों में तीसरी से सातवीं शताब्दी तक किया मिलता है। फूनान की राजभाषा संस्कृत थी। पल्लव लिपि का उपयोग पल्लव राजाओं के सांस्कृतिक वैभव का सूचक है।

कम्बोडिया ही एकमात्र ऐसा देश है जिसका नामकरण किसी ऋषि के नाम पर किया गया है। कम्बुज नरेश कम्बु स्वाम्भुव और मेरा के वंशज थे।

जयवर्मन द्वितीय नौवीं शताब्दी में गद्दी पर बैठा। उसने कम्बोडिया को जावाई पराधीनता से मुक्त किया। उससे आधुनिक समय तक वहाँ होनेवाले शासकों की अटूट शृंखला चली आ रही है। उसी ने टोनले साप की विशाल झील के उर्वर प्रदेश के चतुर्दिक अंगकोर की स्थापना की, जिस झील में मेकाड नदी लाकर अपना जल गिराती है। अंगकोर शब्द संस्कृत शब्द नगर का कम्बोडियाई उच्चारण है। कम्बोडियनों को विश्वास है कि अंगकोर का निर्माण इन्द्र ने किया जिसने नगर को पहले मिट्टी के साँचे में ढाला, फिर उस पर एक प्रकार का ठण्डा करनेवाला पदार्थ गिराया जिससे वह ठोस बन गया। महान इन्द्र खेरों के इस देश को अपना प्रिय समझते हैं और जब उन्हें ध्यान हुआ कि राजा और रानी निस्सन्तान हैं तो उन्होंने रानी को एक पुत्र प्रदान किया और उस बालक को ताविंश स्वर्ग का वैभव दिखाया। पुत्र ने खेरो पर शासन किया और स्वर्ग के राज्य की अनुकृति अंगकोर में बनवाई। पुत्र के राज्याभिषेक में इन्द्र धरती पर पधारे और उस बालक के राज्य को कम्बुज नाम दिया, एक पावन तलवार उसे भेंट में दी जो इन्द्र के वज्र के समान है। यह आज दिन तक राजमहल में सुरक्षित रखी हुई है और राज्याभिषेक उत्सवों पर उपयोग में लाई जाती है। राज्याभिषेक उत्सव धूमधाम से होनेवाली घटनाएँ हैं। राजा को दिवस के अनुसार (मंगलवार हो तो बैंगनी) वस्त्र पहनाए जाते हैं। महल में उसका स्वागत बाकू संघ के परम आचार्य द्वारा किया जाता है जो विष्णु की प्रतिमा लेकर आते हैं। राजा के चरण नारियल रस और सुगन्धित द्रव्यों से प्रिआ रेआमिआ रेआचिया थिप्पेडी (राम राज्य अधिपति) द्वारा धोए जाते हैं। परम आचार्य द्वारा राजा के दाएँ हाथ में शिव की और बाएँ हाथ में विष्णु की प्रतिमा रखी जाती है। जब वह राजा को पावन तलवार (खड्ग) पकड़ाता है तो वह यह घोषित करता है “लो, इसे धारण करो, क्योंकि तुम्हीं तो इन्द्र के वज्र हो।”

अंगकोर छह सौ वर्षों तक फलता-फूलता रहा। नगर पर 1431 में थाइयों ने अधिकार कर लिया तथा अंगकोर और समूची कम्बोडियाई सभ्यता पर अन्धकार पट पड़ गया।

कम्बोडियाई राजा अपनी राजधानी बदलकर नोम पेन्ह ले गया जिसे उस समय चडोमुख कहा जाता था। 15 वीं शताब्दी में नए राजवंश का आरम्भ होने पर मन्दिरों का निर्माण और संस्कृत अभिलेखों का लिखना बन्द हो गया क्योंकि श्रेष्ठ वर्ग ही

समाप्त कर दिया गया था। जब राजा पोनहिआ यत ने नोम पेन्ह में राजधानी स्थापित की तो उसने यह भव्य उपाधि उसे दी

चतुर्मुख मंगल सकल कम्बुजाधिपति

श्रेष्ठ परम इन्द्रप्रस्थ पुरी राष्ट्र राजसीमा महानगर

अलंकृत काव्य शैली के सहस्राधिक संस्कृत अभिलेख कम्बोडिया के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन को प्रकट करते हैं। जयवर्मन सप्तम का संस्कृत अभिलेख ता प्रोहम राजविहार की विशालता प्रकट करता है जहाँ राजा ने प्रज्ञापारमिता के रूप में अपनी माता की प्रतिमा स्थापित की थी। इस विहार में 439 प्राध्यापक और 970 विद्वान नियुक्त थे तथा मन्दिर के देवताओं की सेवा करने के लिए 66,625 लोग लगाए हुए थे। आगे यह अभिलेख यह भी बताता है कि राज्य में 798 मन्दिर और 102 चिकित्सालय थे।

इन्द्रवर्मन (877-889) ने सिंचाई करने की नहरों का जाल बिछवा दिया जिससे राज्य में प्रचुर उत्पादन होने लगा। इसको शिखर बाकोडू में बलुआ पत्थर से बने विशाल मन्दिर में प्राप्त हुआ। यशोवर्मन (889-900) ने अति विशाल जलकर्म निर्मित कराए जिसने समृद्धि और अंगकोर दोनों को पर्यायवाची बना दिया। अंगकोर एक बृहत जलविज्ञान प्रणाली था जिसमें पानी पहुँचाने की नहरें, बाँध, सरोवर, खेतों में ताजा जल संग्रह करने, वर्षा जल इकट्ठा करने और उसका वितरण करने की नालियाँ बनाई हुई थीं। प्रकृति की अनिश्चितता की जगह विस्तृत आर्थिक संभावनाओं ने ले ली थी ताकि खेतर कला को अतिसुन्दर प्रेरण में, जिसमें विशाल समापन स्तम्भ बनाए हुए थे, अथवा नैरन्तरिक वीथियों वाले जयवर्मन पंचम (968-1001) कृत फीमियन अकस में अथवा ता केओ के भारी-भरकम आयामों में अथवा बैन्तेय श्रेई (968) के कोमलता से छेनी-तराशे पाषाण मन्दिर माणिक्य में अथवा मानव द्वारा कभी बनाए गए बृहत्तम मन्दिरों में से एक, अंगकोर वट, वाले खेतर कला की सर्वोत्तम प्रतिमा में अभिव्यक्ति मिल सके।

आज दिन तक भी, यक्षणियों, इन्द्र के स्वर्गलोक राजा-रानियों की परीकथाएँ देश में दूर-दूर तक फैली हुई हैं जिन्हें बाँस से बनाए काष्ठतरंग वाद्यों (जायलोफोन) के जलवत संगीत सहित लम्बे-लम्बे नाटकों में पिरो दिया गया है। कम्बोडिया के लोकगीत अत्यधिक सुन्दर, जीवन और परिवर्तनशीलता से मर्मस्पर्शी बने हुए हैं।

कूद पड़ता हूँ मैं घने वन कुंजों में

ढूँढने अपनी प्रियतमा को

और एकाएक वह दिखाई पड़ती है मुझे

झरने से पानी लेती हुई

परन्तु, नहीं है वह यह, यह वह नहीं है

यह तो भोर का शुक्र तारा है

जो धुँधले आकाश के किनारे पानी पी रहा है।

दक्षिण-पूर्व एशिया का प्रथम संस्कृत अभिलेख चम्पा से मिला है। यह वो चान्ह चट्टानाभिलेख है जिसे पुरालिपि आधार पर द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई. में रखा गया है। संस्कृत पुरालेखों की पुष्टि चीनी स्रोतों से भी होती है। अभिलेख और चीनी इतिवृत्तों के आधार पर सन् 198 से चम्पा के इतिहास का पुनर्लेखन कर लिया गया है। एशिया की संस्कृति में वे मुख्य आवेजक रहे। चम्पा संस्कृत और बौद्ध विद्वत्ता का प्रसिद्ध केन्द्र था। शम्भुवर्मन के विरुद्ध एक चीनी सैनिक मिशन 1350 संस्कृत-बौद्ध ग्रन्थ युद्ध की लूट स्वरूप चीन लाने के लिए भेजा गया। 752 में जापान के सम्राट शोम ने चम्पा से बुद्धस्थिर को दायबुत्सू रोशना (रोचन बुद्ध) के वैभवशाली प्रतिष्ठापन उत्सव के लिए तोदाइजी विहार में आने को आमन्त्रित किया। उसने जापान में संस्कृत संगीत और नृत्य की शुरुआत की जो आज भी राजकीय संगीत समूह का अंग बने हुए हैं। चामों के जनसंख्या साधन कम थे और उन्नीसवीं शताब्दी में जनसंख्या की असमान टकराहटों में वे परास्त हो गए। उनके सम्मोहक गरिमा के अवशेष आज भी लोकवार्ता में देखे जा सकते हैं जो अब भी 'इन्द्र जिसे यान इन' अर्थात् देव राज इन्द्र कहते हैं, की कथाओं से भरी पड़ी है। उसे सोड लुई की घाटी से ऊपर बनाए बाँध के निर्माण से सम्बद्ध किया जाता है जो जादुई ढंग से आकाशीय जलों को बाँधता है। भारी सूखा पड़नेवाले वर्षों में चाम लोग पानी मुक्त करने के लिए उसकी प्रार्थना भी करते हैं।

इण्डोनीसियाई द्वीपों में संस्कृति का उदय होने का प्रमाण राजा मूलवर्मन के सात अभिलेखों से मिलता है जिन्हें पुरालिपि साक्ष्यों के आधार पर लगभग 400 ई. का बताया गया है। इस शताब्दी तक यज्ञों की परम्परा पूर्णतया स्थापित हो चुकी होगी क्योंकि राजा ने हजारों गावें ब्राह्मणों को दान स्वरूप दीं, अस्पताल स्थापित किए और विस्तृत सिंचाई प्रणाली की स्थापना की। ये अभिलेख महाकाम नदी से मिले थे जो ऐसा नाम है जिसमें कामधेनु प्रतिबिम्बित लगती है जिसने सभ्य बनाते प्रभावों और भौतिक सम्पन्नता की गति सुनिश्चित बनाई। उसने आकाशदीप बनवाया जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए विकसित अधोसंरचना की ओर इंगित करता है। यह कुण्डुंग वंश था जिसने दक्षिणपूर्व एशियाई क्षेत्र के लिए अपने वैभव की छाप चीनी नाम क्युन लुन् में छोड़ी है। पश्चिम जावा से मिले तारुमनगर के राजा पूर्णवर्मन के अभिलेख पाँचवीं शताब्दी के हैं। वे दक्षिण भारत की पल्लव लिपि का प्रयोग प्रकट करते हैं। तारुम धर्म की तमिल वर्तनी है। राजा का विष्णु का अवतार होने की धारणा और नगर ऐसे राज्य की ओर संकेत करते हैं जिसकी सामाजिक व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता संकेन्द्रित होती जाती थी और उसी के फलस्वरूप आर्थिक सम्पन्नता लाने के लिए बड़ी-बड़ी सिंचाई संरचनाएँ बनाई जा सकीं। कालीमन्तन और जावा में हुई हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म की अन्तःक्रियाओं से उच्च स्तरीय सभ्यता निर्मित हुई जिसमें वर्णमाला संस्कृति, प्रभावशाली प्रशासनतन्त्र, आर्थिक समृद्धि के लिए विस्तृत सार्वजनिक कार्य करनेवाली

शक्तिशाली प्रणाली तथा देव प्रतिमाएँ मन्दिरों के जटिल वास्तुसमूह निर्मित करने के लिए औजार धातुविज्ञान का विकास और भास्कर्य शिल्पविधियाँ विद्यमान थी। मन्दिरों से ध्यान चला, निरे भौतिक देखने से आगे जाकर यह देवत्व का प्रत्यक्षीकरण करना था। चित्रकला, भास्कर्य शिल्प और वास्तु संरचनाओं ने ध्यान को बढ़ावा दिया। चण्डियों के भास्कर्य और वास्तुशिल्प शास्त्रीय इण्डोनीसिया का वैभव प्रदर्शित करते हैं। बोरोबुदुर, पराम्बनम्, कालासन से चलकर नीचे 15वीं शताब्दी तक सुकुह और चेतो में बनी चण्डियाँ इण्डोनीसियाई द्वीपसमूह के मरकत सूत्र पितृदाय की मोतीमणियाँ हैं। कथावाचक, चारण और कवियों का संसार पुरानी जावानी के साहित्य जैसे चन्दाकरण कोश जिसमें छन्दशास्त्र, व्याकरण और अलंकार सम्मिलित हैं, महाभारत के महान पर्वों, काकविनों जैसे रामायण, दार्शनिक ग्रन्थों जैसे भुवनकोश और सान ह्याड कामहायानिकम द्वारा प्रतिनिधित्व पाता है। उदाहरणार्थ, राजा धर्मवंश तगुह अनत विक्रमोतुंगदेव ने महाभारत को जावाई भाषा (*मंजावाक्ता*) में लाने के पुण्य कार्य को आरम्भ किया ताकि उसकी परम्परा भविष्य में जीवित बनी रहे। राजा तो अपने विजय अभियानों में लगा रहा और उसकी रानी साहित्य सृजन की अध्यक्षता करती रही जिसे अमर प्रसिद्धि प्राप्त हुई। स्थानीय प्रतिमाओं ने हिन्दू-बौद्ध संस्कृति और सभ्यता को उसके सभी प्रकटनों में एक नया मुहावरा प्रदान किया।

अपने अनेक देवी-देवताओं सहित भारत-एशियाई देवप्रियता बहुदेववाद प्रदर्शित करती है जिसे एक नई संवेदना भी बन जाना चाहिए। यह यथार्थवाद के अनेक रूपों के प्रति खुलापन है। ये अर्थ और अस्तित्व की बहुत सारी संरचनाएँ हैं जिनमें हम निरन्तर जी रहे हैं। देव-विविधता गहराई, पारगामी कार्यों का एक अनुनाद देती है। अपना और दूसरों की विविधता के प्रति आदर रखना सिखाती है। जीवन में दृढ़ बाड़ या सीमाएँ नहीं बनाई जा सकतीं। अस्तित्व के पावनीकरण, सम्पूर्णन और मर्यादाकरण के लिए नए क्षितिजों की आवश्यकता है। बौद्ध धर्म ने इस जगत को करुणा से चुम्बित किया, मानव के हृदय में प्रकाश और प्रेम बुन दिए, जीवन की गम्भीर छायाओं के एकाकी (सूने) कोटरों में दीप प्रज्वलित किए, मारधाड़ के कर्मकाण्ड की जगह पुष्प अर्पित किए और दीप जलाए। शान्ति के राजकुमार, बुद्ध ने मानव के शुष्क हृदय में, जो विजय करने के आतंककारी अनुसरण में बिना रुके दौड़ रहा था, शान्ति दी! कोलाहल करती तरंगमान शताब्दियों से अपरिमेय प्रेम की प्रार्थना उठ रही है 'बुद्धं शरणं गच्छामि, तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।'

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

ऐसे थे हमारे कम्युनिस्ट नेता!

राज थापर*

संकलन और अनुवादशंकर शरण

र. राज थापर की पुस्तक *ऑल दीज इयर्स* (1991) से कुछ अंश। ये भारत के विभिन्न कम्युनिस्ट नेताओं के बारे में राज थापर के अनुभव और टिप्पणियाँ हैं, जो इस पुस्तक में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं। उन्हें जहाँ-जहाँ से लिया गया है उसकी पृष्ठ संख्या हरेक अंश के अन्त में दी गई है। कोष्ठकों में दी गई बातें मूल लेखन में नहीं हैं। उन्हें पाठ को स्पष्ट करने के लिए हमने जोड़ा है। पुस्तक में इन तथा अन्य नेताओं के बारे में और भी कई प्रसंग हैं। जैसे मोहन कुमार मंगलम, रोमेशचन्द्र, रजनी पामदत्त, सज्जाद जहीर, मुल्क राज आनन्द आदि। इसके अलावा डी.डी. कोसांबी, एस. गोपाल, नुरुल हसन, जैसे मार्क्सवादी लेखकों के बारे में भी शिक्षाप्रद प्रसंग हैं। हमने केवल कुछ सबसे जाने-माने कम्युनिस्ट नेताओं के चुने हुए प्रसंग ही लिए हैं। यह न केवल कम्युनिस्ट आन्दोलन के मूलतः अन्धविश्वास से चलते रहे होने का प्रमाण देते हैं, बल्कि यह भी कि इस अन्धविश्वास के प्रभाव में कम्युनिस्ट पार्टी ने देश और समाज को कितनी हानि पहुँचाई। राज थापर के अनुभवों के आलोक में हम आज भी मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं, लेखकों व कम्युनिस्ट नेताओं द्वारा समाज की की जा रही हानि को समझने का प्रयास कर सकते हैं। उनकी कम संख्या से यह भ्रम कभी न होना चाहिए कि हानि पहुँचाने की उनकी क्षमता भी कम है। उनमें से कई लोग यह कार्य अच्छे इरादों से करते रहे हैं, इससे हानि का प्रभाव कम नहीं हो जाता। यह राज थापर के संस्मरणों का वह अलिखित सन्देश भी है, जो आज भी प्रासंगिक है।

इस पुस्तक के अंशों को हिन्दी में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए हम राज थापर की सुपुत्री *श्रीमती मालविका* (थापर) सिंह के हार्दिक आभारी हैं। [अनुवादक]

पी.सी. जोशी

इसी (1945-46) आसपास मैं पहली बार पी.सी. जोशी (तब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव) से मिली। वे एक रात हमारे घर खाने पर आए थे। उसकी तैयारी, खाने की नहीं बल्कि उनकी उपस्थिति को सँभालने की, बेहद तनाव भरी थी। तभी

* आल दीज इयर्स की लेखिका।

मैंने पहली बार समझा कि कम्युनिज्म में नेता कोई गलती कर ही नहीं सकता, वह अपने आप में सबकी भावनाएँ और चिन्तन समाहित रखता है, यहाँ तक कि क्रान्ति मात्र को। उसकी आभा सन्तों से भी ज्यादा होती है क्योंकि यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वैज्ञानिक प्रवृत्ति पर आधारित होती है। जब तक वे घर आएँ मैं इतनी नर्वस हो चुकी थी कि मैंने अपने सभी नाखून काट खाए। मैं यही सोच रही थी कि उनकी उपस्थिति में ऐसा कुछ न कह दूँ जिससे उन्हें लगे कि मैं कोई मूर्ख बुरजुआ हूँ, जो सोचने या मजदूर वर्ग के लिए लड़ने में अयोग्य है। इन बातों के भार से मैं इतनी दब गई थी कि मैं लगभग बोलने की शक्ति खो चुकी थी, और मेरे कान उनके द्वारा बोले हर अक्षर को सुनने के लिए व्यग्र थे। मगर, अफसोस, वह होने वाला नहीं था। उनके मुँह से शब्द इस तेजी, बेतरतीबी और एक-दूसरे से उलझे निकल रहे थे, आरम्भ, अन्त और बीच भी सब एक-दूसरे में मिले जा रहे थे। जब बाद में मैंने मोहन (कुमार मंगलम, अन्य बड़े कम्युनिस्ट नेता, जो तब थापर दम्पति के बड़े घनिष्ठ थे) से इसकी चर्चा की, तो उसने कहा कि ऐसा इसलिए है कि पी.सी. का दिमाग इतना तेज है, और हर चीज में इतना आगे चलता है, दौड़ता हुआ, कि उनकी बोली उसके साथ गति नहीं रख पाती! (पृ. 16)

(यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरत बाद की बात है। डेढ़ वर्ष बाद विदेश से लौटते ही) दूसरी सुबह हम अधीरता से कम्युनिस्ट पार्टी मुख्यालय पहुँचे। ...हर कोई अपने कमरे में था, और जब हमने मोहन को ढूँढा, वह व्यस्त सा लगा, उसके चेहरे पर एक अटपटी मुस्कान आई। हमने उसे बताया कि हम पार्टी सदस्यता का आवेदन भरने आए हैं। 'नहीं, नहीं, अभी नहीं', उसने एक लज्जित सी हँसी के साथ कहा। हमने प्रतिवाद किया, उसकी प्रतिक्रिया सुनकर हम चकित परेशान हो गए थे। जब हमने जोर दिया तब उसने स्पष्ट किया और विस्तार से बताने लगा कि कैसे पी.सी. जोशी का दिमाग खराब हो गया है, वह असोचनीय बातें सोचने लगे हैं और अपने कमरे में बन्द रहते हैं और किसी से नहीं मिलते।

यह हमें बाद में पता चला कि उन्हें जबर्दस्ती बन्द कर दिया गया है और एक 'आत्मालोचना' लिखने को कहा गया है। वह कम्युनिस्ट आत्म-स्वीकृति, जिसमें गलत राजनीतिक मूल्यांकनों के लिए उन्हें स्वयं अपनी निन्दा करनी थी। रणविदे ने उनसे सवाल किया था कि कैसे जोशी यह कल्पना कर सके कि भारत ने आजादी प्राप्त कर ली है, कि कोई जिसका दिमाग खराब हो गया हो, वही ऐसा विश्वास कर सकता था। और इसी तर्क से रणविदे ने पोलित ब्यूरो के बहुमत को समझा लिया था और वे सबके सब अपने पहले नेता के विरुद्ध शिकायती मुद्रा में खड़े हो गए थे, और उस पर दबाव डाल रहे थे कि वह स्वीकार करे कि वह गलत था और कि भारत स्वतन्त्र बिलकुल नहीं हुआ है! (पृ. 50-51)

जोशी को उन सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए कभी वह श्रेय नहीं मिला जिसके वे हकदार थे उन्होंने उसे शुरू करवाया था, और वह उसके लिए उस तरह सोचते थे जैसा शायद ही किसी दूसरे कम्युनिस्ट नेता ने सोचा था। (पृ. 66)

बी.टी. रणदिवे

जोशी को चुनौती देनेवाले रणदिवे के पास बड़ी सीधी लाइन थी कि देश के राजनीतिक जीवन में ऐसा कुछ नहीं हुआ है कि हम मानें कि हमने आजादी पा ली है। हम पहले की ही तरह साम्राज्यवाद से बंधे हैं, और यह भारत के स्वतन्त्र हो जाने की बात हमारे देश के बुर्जुआ द्वारा हमारी आँखों पर डाला गया पर्दा है। यह बुर्जुआ ब्रिटिश और अमेरिकी साम्राज्यवाद से मिला हुआ है। नेहरू अमेरिकी साम्राज्यवाद का 'दौड़ता कुत्ता' है और यह पार्टी का काम नहीं कि 'राष्ट्रीय बुर्जुआ' के 'पीछे-पीछे चले'।

मैं इस तरह के शब्दों से परिचित होती जा रही थी, उनके साथ सहजता महसूस करने लगी थी। उन सबका विशेष अर्थ था और वे दिमाग में एक साफ-सुथरे पैटर्न में जगह बना लेते थे। सिद्धान्त का मतलब (शब्दों के) ऐसे टुकड़ों को ऐसी आड़ी-तिरछी पहेली के रूप में रखना था ताकि वे (मस्तिष्क में) एक-दूसरे में फिट होकर बैठ जाएँ। इसी को वैज्ञानिक (विचार, पद्धति) समझा जाता था। (पृ. 54)

(यह 1948 के उत्तरार्द्ध की बात है।) रणदिवे और रोमेश में पार्टी के समक्ष उपस्थित समस्याओं पर जोर-जोर से बात हुई कि यह (हमारे लिए) पार्टी सदस्यता लेने का कोई समय नहीं लेकिन हमें पार्टी अनुशासन का पूरी तरह पालन करना चाहिए और किसी हाल में अपने बुर्जुआ सम्बन्धों को तोड़ना नहीं चाहिए। ...उसने (रणदिवे ने) हमें यह समझाने की कोशिश की कि लोगों में क्रान्तिकारी उत्साह भरा हुआ है, हालाँकि किन लोगों में? हमने यह कभी नहीं पूछा, और कॉंग्रेस तथा नेहरू के विरुद्ध एक राष्ट्रवापी हड़ताल आयोजित करने के लिए समय बिलकुल परिपक्व है। (पृ. 56)

रणदिवे में एक तरह की महाराष्ट्रीय बौद्धिकता का सर्दपन था, जिसमें दूसरे हर विचार के प्रति घृणा रहती है। इस बौद्धिकता के तर्कों का सामना होने पर आप या तो किनारे पड़ जाते हैं या उसके पीछे सिपाही की तरह घिसटने लगते हैं। पार्टी सदस्यों की वफादारी सबसे बड़ी चीज हो गई थी। क्या पार्टी सदस्य, बिना कोई सवाल पूछे, अपने-आपको चलती ट्रेन के सामने डाल देंगे यदि वह (रणदिवे) ऐसी माँग करे? क्या वे यह, या वह करने के लिए तैयार हैं? ऐसी-ऐसी माँगें की जाती थीं जो

विचित्र, वीभत्स सी लगती थीं और उसके उत्तर देने में (पार्टी सदस्यों की) जरा सी हिचकिचाहट भी पार्टी से उनके निष्कासन का कारण बन जाती थीं। सैकड़ों लोगों को पार्टी से निकाल बाहर किया गया।

इसने हमारी कम्युनिस्ट सुखानुभूति को प्रतिकूल और गहरे प्रभावित किया। रोमेश कुछ करने के लिए व्यग्र हो रहे थे, चाहे केवल अपने (बुर्जुआ कुल में) जन्म और (बुर्जुआ) अतीत को गलत साबित करने के लिए। मुझे लगता है कि मैं इन सब बातों पर अपना बुनियादी विवेक बचाकर इसलिए रख पाई क्योंकि उस समय मेरे पास अपना एक बड़ा लगाव था मैं बनने का विचार मेरी मानवीयता को बचाकर रखे हुए था। जबकि रोमेश को खूब चोट खाने को मिलती थी। जब भी वह उस संकीर्ण पार्टी लाइन से हटकर कुछ भी बोलते, खासकर शाखा मीटिंगों में जो हमारे घर पर होती थी, तो उन्हें रामदास, जो शाखा प्रमुख था, से इस तरह के सवाल झेलने पड़ते थे, "लेकिन रोमेश, तुम कैसे जानते हो कि क्या सोचना चाहिए? तुम मजदूर वर्ग के लिए सोच ही नहीं सकते तुम एक जेनरल के बेटे हो।" मौत सी चुप्पी। इसके बाद कहने के लिए रह ही क्या जाता है सिवा इसके कि आप अपने आपको किसी तेज आती रेलगाड़ी के सामने डाल दें? (पृ. 67)

रणदिवे ने आम हड़ताल का आह्वान किया था। 22 फरवरी 1949 का दिन निश्चित किया गया। यह वह हड़ताल होनी थी जो सभी हड़तालों का सदा के लिए अन्त कर देगी, जब लोग अपने शोषकों का तख्ता-पलटने के लिए उठ खड़े होंगे, और मजदूर वर्ग का अग्रिम दस्ता, कम्युनिस्ट पार्टी देश की सत्ता पर अधिकार कर लेगी। यह पूरे विशाल भारत में सब जगह होनी थी। कम्युनिस्ट केवल मुट्ठी भर थे, इसलिए किसी भी तरह काम तो बहुत बड़ा था। सत्ता पर अधिकार करने की सारी तफसील की योजना बन गई, हरेक को अपना काम बता दिया गया।

रोमेश को उस दिन सुबह छः बजे उठना था, और सीधे घर के सामने हैंगिंग गार्डन के शीर्ष पर चढ़ जाना था और हार्बर के पार दूर कपड़ा मिलों की चिमनी की ओर नजर रखनी थी। और यदि चिमनियों से धुआँ न निकलता दिखे, उसे कूदकर अपनी कार में बैठना था और तेजी से मेरिन ड्राइव को चीरते हुए ऑल इण्डिया रेडियो पहुँचना था और रेडियो स्टेशन पर कब्जा करने में मदद करनी थी। वहाँ उसे और लोग मिलेंगे।

हमें कुछ मालूम न था कि दूसरे कौन लोग होंगे। हाथ में कोई हथियार भी नहीं थे किन्तु पार्टी नेतृत्व के प्रति ऐसा कटिबद्ध विश्वास था कि ऐसे प्रश्नों का कोई महत्व न था, जो कि होना चाहिए था। स्पष्टतः रणदिवे ने कल्पना कर ली थी कि ठीक इसी तरह लेनिन ने 1917 के अक्टूबर की उस सुबह को सब किया होगा। मुट्ठी भर लोगों के साथ आपकी तरफ मजदूर वर्ग। जैसे स्काऊट लड़के नकली लड़ाई प्रदर्शित करते

हैं, या बच्चे वह खेल खेल रहे हों जो उन्हें बचपन में खेलने को नहीं मिले थे। इस मूर्खता का पैमाना निस्सन्देह बहुत विराट था... (पृ. 70)

× × ×
 मैं इसके प्रति सचेत थी कि मेरे मस्तिष्क के चारों कोनों से सन्देह उपजने लगे थे। मैं इन सन्देहों को आने और जमने का मौका दे रही थी जो वास्तव में (पार्टी में) गद्दारी समझी जाती। जितना ही हम रणदिवे के विचित्र और कठोर शासन के बारे में सुनते, उतना ही हमें धक्का लगता। एक बार गुस्से में मैंने कहा भी कि क्या होगा यदि ऐसे लोग सत्ता में आ जाएँगे! रोमेश मुझे समझाने के लिए नजदीक बैठे थे कि ठीक इसीलिए तो ऐसा नेतृत्व सत्ता में आ ही नहीं सकता। मगर मैं आश्वस्त नहीं थी। और सड़क किनारे फाँसी देने के अनगिनत स्थलों की आसानी से कल्पना कर सकती थी यदि ऐसे लोगों के हाथ में सत्ता पड़ जाए। कम से कम मुझ में संघर्ष शुरू हो गया, किन्तु यह केवल ऐसे लोगों के सत्ता में आने से सम्बन्धित था, न कि क्रान्ति की विचारधारा से। (पृ. 81-82)

× × ×
 इस बीच रणदिवे पागल होता जा रहा था। बिना सत्ता या उसकी कल्पना के भी हर शब्द, हर विचार, हर प्रस्थापना जो उससे निःसृत होती थी, उसने बाइबिल का रूप ले लिया था। उन पर किसी सन्देह की छाया भी किसी को (कम्युनिस्ट पार्टी से) बर्खास्त कर देती थी। पार्टी का क्षरण इस रफ्तार से होता जा रहा था कि पार्टी मुख्यालय में असन्तोष उभरने लगा था, जहाँ कुछ सदस्य जब-तब भूमिगत डाक को चुपचाप खोलकर देख लिया करते थे। सिर्फ यह निश्चित करने के लिए कि रणदिवे के निर्देश पागलपन की सीमा तो नहीं लाँघ गए हैं। ऐसी ही एक डाक में पी.सी. जोशी को जान से खत्म करने का आदेश भी पकड़ा गया। इससे चिन्ता और निराशा भर गई। *क्रॉसरोड्स* (रोमेश का अखबार, जिसे बाद में कम्युनिस्ट पार्टी ने हड़प लिया) के दफ्तर में बैठे हम लोगों के दिमाग में यह बात बैठ गई। मेरे मन में एक क्षण के लिए भी यह बात नहीं निकलती थी कि 'क्या होगा यदि ऐसे लोग भारत में सत्ता पर काबिज हो जाएँगे? क्या रास्ते में जगह-जगह फाँसी घर नहीं बन जाएँगे?' मैं बार-बार इस पर सोचती रही। यह भयंकर स्थिति थी, मगर हम तब भी यही समझते थे कि केवल हमारी पार्टी इस रोग से ग्रस्त है और दुनिया में अन्य (कम्युनिस्ट) पार्टियों में यह नहीं फैल सकता। (पृ. 90-91)

श्रीपाद अमृत डांगे

(डांगे के बारे में 1946 के एक आरम्भिक प्रसंग के लिए *चिन्तन-सृजन* के पिछले अंक में 'बीते वर्षों की कहानी' लेख भी देखें)

अनिल दा सिल्वा (एक श्रीलंकाई लड़की, जो तब बम्बई में मुल्क राज आनन्द के साथ रहती थी) मुझे कम्युनिस्ट पार्टी भारत वाली, में सेक्स सम्बन्धी कहानियों से मेरा मनोरंजन करती रहती थी। उसने (भारतीय कम्युनिस्ट) पार्टी की सदस्यता के लिए आवेदन किया था, और जैसा नियम था, उसे तीन महीने प्रोबेशन पर रहना था। तो, मुक्त विचार की तो वह थी ही। वह कम्यून (बम्बई में सैण्डहर्स्ट रोड पर एक मकान जिसमें कई कम्युनिस्ट रहते थे) में आने-जाने लगी जहाँ हर तरह के पुरुष भरे हुए थे। सब मजदूर वर्ग के ध्येय के लिए समर्पित और सबके सब औरतों के लिए भूखे। वर्गीय संरचना के बारे में गहन बहसों के बीच वे अक्सर अपने-आपको अनिल की बड़ी-बड़ी आँखों में देखता पाते। इससे वे स्पष्टतः घबड़ा जाते, असहज हो उठते। (अनिल कहती) 'वे अपने बारे में इतने दुःखी रहते, उनके पास अपने काम के अलावा और कुछ नहीं, तो मैं आखिर क्या कर सकती थी?' उसकी भावनाएँ बहुवचन में थी और मैं कल्पना कर सकती थी कि पार्टी मुख्यालय में केवल अपनी उपस्थिति से वह क्या तबाही मचा देती होगी। अन्ततः यह बहुवचन भाव एकवचन में डांगे पर जा टिका, जिसमें सबसे ज्यादा वैयक्तिक आकर्षण था। किन्तु उसका प्रभाव भी (अनिल को) सदस्यता नहीं दिला सका और अन्ततः उसे जाना पड़ा। मुल्क (राज आनन्द) ने उसे डांगे से खींचकर अलग किया, मगर इसके लिए इन दोनों पुरुषों ने जीवन भर एक दूसरे को माफ नहीं किया। (पृ. 58-59)

× × ×
 (यह 1949 का प्रसंग है जब पाब्लो नेरुदा बम्बई आए थे। सोवियत नेताओं ने तब दुनिया भर में एटम बम के विरुद्ध एक शान्ति आन्दोलन का अभियान चलवाया था। इसे हर देश में कम्युनिस्ट कार्यकर्ता ही संगठित करते थे। लोगों को बताया जाता था कि युद्ध किसी समस्या का समाधान नहीं है। लेकिन, जैसा राज थापर ने अपने अनुभव से लिखा है, यह ऊपरी दिखावा था और वास्तव में सोवियत नेता तब तक के लिए समय चाह रहे थे जब तक वे भी वह बम न बना लें। यदि वह आन्दोलन दिखावटी न होता तो राज के शब्दों में, 'आज दुनिया उसका सुफल भोग रही होती'। किन्तु तब सोवियत नेताओं के लिए यह आन्दोलन पहली प्राथमिकता थी। इसी सिलसिले में नेरुदा बम्बई आए थे और रोमेश (थापर) को यहाँ शान्ति आन्दोलन का गठन करने के लिए चुना गया। रोमेश ने बम्बई में हर क्षेत्र के लोगों से बातचीत की, और सब इसका स्वागत करने के लिए तैयार थे, 'यदि यह कोई कम्युनिस्ट चाल न हो'। रोमेश ने सबको आश्वस्त किया कि नहीं, ऐसी बात नहीं।) तब पहली जन-सभा घोषित की गई। रोमेश को कम्युनिस्ट पार्टी ने आश्वस्त किया था कि वह उसमें ज्यादा उभरने की कोशिश नहीं करेगी और शान्ति के मामले में अपनी संकीर्ण पार्टी-लाइन का घाल-मेल करने की कोशिश नहीं करेगी।

नियत दिन आया, हॉल पूरा भरा था, भाषण शुरू हुए। और जब डांगे उपस्थित लोगों को सम्बोधित करने उठे, कुल चार फुट दस इंच का व्यक्ति, अपनी दृढ़ और स्पष्ट आवाज में, उसने कहा, “बहनों और भाइयों, साथियों, शान्ति का मतलब है सशस्त्र संघर्ष और सशस्त्र संघर्ष का मतलब है शान्ति।” हॉल में इस बयान के बाद छाई स्तब्धता में विश्वासघात की फुफकार थी। रोमेश एकदम घबरा गए। उन्हें पार्टी ने धोखा दिया था, और इस तरह (अनजाने) उन्होंने लोगों को बरगलाया था। यह (सोचकर सभा आयोजित करना कि कम्युनिस्ट पार्टी उसका राजनीतिक उपयोग नहीं करेगी) एक हिमालयी भूल थी, हालाँकि आज मैं महसूस करती हूँ कि उस घटना में कम से कम ईमानदारी का गुण तो था, एक ऐसा मूल्य जो कम्युनिज्म के लिए नितान्त विजातीय है। (पृ. 80)

× × ×

(यह 1949 में ‘सशस्त्र क्रान्ति’ के एडवेंचर के बाद के काल का प्रसंग है। कम्युनिस्ट पार्टी को भारत सरकार ने प्रतिबन्धित कर दिया था। रणदिवे की ‘भारत स्वतन्त्र नहीं’ वाली लाइन खत्म हो चुकी थी, और नई समझ बनाने की वैचारिक उथल-पुथल चल रही थी। पार्टी की बैठकें भूमिगत होती थीं। नेतृत्व में काबिज होने के लिए भी गुटबाजी, षड्यन्त्र आदि चल रहे थे। राज और रोमेश तब तक इन गुटबाजियों के अस्तित्व से भी अनजान थे। ऐसी ही स्थिति में रोमेश वारसा से शान्ति सम्मेलन में भाग लेकर लौटते हुए लन्दन में ब्रिटिश कम्युनिस्ट रजनी पामदत्त से भारतीय स्थिति पर लम्बी बात-चीत करके लौटे थे। अजय घोष ने रोमेश को कुछ बिन्दुओं पर पामदत्त के विचार लेने का विशेष आग्रह किया था। उन्होंने इस सम्बन्ध में बम्बई में रोमेशचन्द्र और पेरिन (पति-पत्नी और कम्युनिस्ट नेता, जो राज व रोमेश के मित्र भी थे) से कह रखा था कि जैसे ही रोमेश (थापर) लौटें, वह उस बात-चीत का सार जल्दी कूरियर से कलकत्ता भेज दें, जहाँ सेण्ट्रल कमिटी की बैठक चल रही थी। वस्तुतः उस समय अजय घोष कोई ऐसी वैचारिक लाइन बनाने की फिराक में थे, जिससे पार्टी नेतृत्व में उनका सिक्का जम जाए। रोमेश यह सब शायद ही समझते थे। जो भी हो, उन्होंने स्वदेश लौटते ही, सन्देश मिलते ही पामदत्त से अपनी बात-चीत का ब्योरा अजय के पास कलकत्ता भेज दिया। लेकिन वह पत्र अजय से पहले किसी और को मिल गया। पार्टी के दूसरे नेताओं ने अजय घोष पर गुटबाजी का आरोप लगाया। इस पर अजय पूरे मामले से साफ पलट गए और कहा कि वह उस पत्र के बारे में कुछ नहीं जानते कि किसने, किसको, किसलिए वह भेजा है।) यह रोमेश के लिए पहला बड़ा धक्का था। सेण्ट्रल कमिटी ने तब एक दस्तावेज जारी करते हुए रोमेश पर अनधिकृत रूप से काम करने, और पार्टी को गलत रास्ते पर डालने का आरोप लगाया। जब यह सब तय हो रहा था, अजय मीटिंग में चुप बैठे रहे, उनके सोने के अक्षर धूल में लोट रहे थे (इसके अर्थ के लिए नीचे अजय घोष वाला अंश

देखें। एक बार राज थापर ने अजय की एक शंका का उत्तर पामदत्त से मिलकर, कष्ट उठाकर, ला दिया था, जिससे अजय बड़े प्रसन्न हुए थे और कहा था कि राज का नाम कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। वही अजय अपने ही कारण रोमेश पर झूठा लांछन लगते हुए देखकर भी पार्टी मीटिंग में चुप बैठे थे।)

...तब हमने पेरिन और आर.सी. को पकड़ा। उन्हीं लोगों ने हमें इस जाल में डाला था और बार-बार कहा था कि अजय एक सम्मानजनक आदमी है, जो किसी को नीचा नहीं दिखाएगा, और पार्टी तथा हमारे जैसे तुच्छ लोगों की कीमत पर भी अपनी निजी उन्नति की नहीं सोचेगा। जब हमने उन दोनों से बात की तो पेरिन असहज लगी, थोड़ी चिन्तित, और आर.सी. ने कहा, ‘मैं उनसे बात करूँगा। गलती सुधार ली जाएगी।’ यह वह आखिरी तिनका था जिसे हम (पार्टी के लिए) जो भी उत्साह बच रहा था, उसके साथ पकड़े हुए थे। तब तक जबकि वह तिनका और उत्साह सदा के लिए गायब हो गए।

(बहरहाल, रजनी पामदत्त को जब मामले का पता चला तो उन्होंने भी पार्टी नेताओं के नाम एक पत्र भिजवाया जिसमें रोमेश को निर्दोष बताया गया। पार्टी नेताओं ने उसका भी नोटिस नहीं लिया। रोमेश कटिबद्ध थे कि वह अपने ऊपर पार्टी नेताओं द्वारा लगा लांछन मिटवाकर ही मानेंगे। वह आर.सी. के साथ सेण्ट्रल कमिटी के लोगों से स्वयं मिलने कलकत्ता गए। अन्ततः पार्टी नेता राजी हुए कि वे रोमेश पर लगाए आरोपों को हटाते हुए दस्तावेज जारी करेंगे। तब जाकर रोमेश को मानसिक शान्ति हासिल हुई। जिस दिन यह तय हुआ उसी शाम डांगे रोमेश को एक तरफ ले गए और अर्थपूर्ण अन्दाज में कहा, “देखो, तुमने गलत गुट ज्वायन कर लिया था। यदि तुम मेरे साथ रहते तो यह सब कुछ नहीं हुआ होता। मैं तुम्हें कभी नीचा नहीं देखने देता।” सारे माफिया जैसे लोग। रोमेश ने पार्टी के लिए काम करने के अपने कारण उसे समझाने की कोशिश की, “मैं लोगों की सेवा करना चाहता हूँ, किसी गुट की नहीं।” यह बोलते रोमेश कितने भोले लगे होंगे, क्योंकि उत्तर में डांगे ने अपने विश्वासपूर्ण लहजे में कहा, “तुम मेरे साथ आ जाओ और मैं तुम्हें साल बीतने से पहले सेण्ट्रल कमिटी का सदस्य बना दूँगा।” (पृ. 102-05)

अजय घोष

(1950 में कोई समय) जब अजय घोष जेल से छूटकर आने के बाद हमारी जिन्दगी में आया। हम उसके बारे में उसकी आतंकवादी पृष्ठभूमि, और पार्टी के प्रति पूर्ण समर्पण के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते थे। वह पेरिन और आर.सी. का मित्र भी था। अजय को कथित रूप से ‘स्तालिन की आँखों का तारा’ भी कहा जाता था। वह उस समय *कोमिनफॉर्म* (सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के नियन्त्रण में अन्तर्राष्ट्रीय

कम्युनिस्ट आन्दोलन की पत्रिका, जो दुनिया भर के कम्युनिस्टों को निर्देशित करती थी) में भारत के बारे में एक नवीनतम सम्पादकीय को लेकर गहरे सोच में डूबा था. .जिसमें भारतीय राज्यसत्ता के वर्ग-चरित्र का, वर्ग सम्बन्धों तथा सम्भावित वर्ग-मित्र और वर्ग-शत्रु समेत, सम्पूर्ण मूल्यांकन किया गया था। यह पहलेवाली लाइन से तिर्यक रूप से भिन्न था। यह समझने के लिए आपको कम्युनिस्ट होना होगा कि इस साधारण सी पंक्ति में कितनी तबाही छिपी है कि '(भारतीय कम्युनिस्ट) पार्टी को सभी किसानों के साथ एकजुट होना होगा'। जो कम्युनिस्ट शब्दावली और क्रियाकलाप से अपरिचित हैं, वे कभी इस प्रस्थापना के महत्व का पैमाना नहीं समझ सकते, क्योंकि इसके छपने से पहले पार्टी को केवल गरीब किसानों के साथ जुड़ने की अनुमति थी। वस्तुतः, धनी किसान तो एक सबसे गन्दी गाली जैसा शब्द था, 'कुलक' के समकक्ष। किसी भी सूरत में कम्युनिस्ट चिन्तन में किसान पिछड़ा हुआ और प्रतिक्रियावादी था। जो भूख से मरता किसान हो, उसके साथ तो चलो आप कोई सम्बन्ध रख सकते हैं, लेकिन शेष किसानों के साथ बिलकुल अछूत सा व्यवहार होता था। इसीलिए उस सोई हुई सी पंक्ति से (यहाँ) पार्टी सिद्धान्तकारों को मानो बिजली का झटका लग रहा था। क्योंकि आखिरकार सोवियत नेतागण तो सर्वज्ञानी थे और यह सम्पादकीय, निश्चित रूप से आर.पी.डी. (रजनी पामदत्त) द्वारा ही लिखा गया होगा। तो कौन बेहतर समझता है? कम से कम वह साथी तो नहीं ही जो यहाँ जमीन पर काम कर रहे हैं।

अजय घोष तब रणदिवेवाली लाइन की तुलना में एक अधिक स्वीकार्य लाइन बनाने की प्रक्रिया में था, लेकिन (कोमिनफॉर्म के) उन कुछ शब्दों से इस तरह हिल गया था कि उसकी पूरी चिन्तन प्रक्रिया एकदम रुक गई थी। हर रोज वह सुबह दस बजे हमारी घण्टी बजाता, रोमेश के अध्ययन-कक्ष में बैठता, और पूछता, रोमेश, तुम्हें क्या लगता है, यहाँ 'सभी किसानों' से उनका मतलब क्या है? मैं यह देख-देखकर गुस्से से भर जाती। यह क्रान्ति का नेता, सूखे हुए उल्लू जैसी सूरत, माथे और अजीब से कानों के ऊपर से उड़ते हुए बाल, बार-बार उन शब्दों को एक ही ढंग से विराम चिह्न जैसा प्रयोग करते दुहरा रहा है। मेरे लिए यह एक तरह से भ्रम-मुक्त होने के मन्त्र सरीखा था।

जो और भी विचित्र लगता था कि अजय ने पेरिन की लाहौर की एक दोस्त के साथ शादी की थी, लिट्टो नाम की लड़की, जिसका कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होना हमेशा एक रहस्य रहा था। उसमें न तो किसी मार्क्सवादी की मेधा दिखती थी, न क्रान्तिकारी का उत्साह। वह हमारे जैसी (समृद्ध) पृष्ठभूमि से आई थी और पार्टी सदस्यता लेने तथा एक कम्युनिस्ट 'नेता' से विवाह के बाद भी वैसी ही बनी रही। मुझे आश्चर्य होता है कि हम कितने अनुशासित थे कि इस बात की चर्चा हमने कभी किसी से नहीं की।

मैं अब तक उस चीज पर नकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगी थी जिसे मैं कम्युनिस्ट 'नेताओं' की बड़ी भारी अयोग्यता समझती थी। मैं इस विदेशों से आदेश लेनेवाले धन्धे पर बराबर सवाल उठा रही थी, विदेशों से प्रस्थापनाएँ प्राप्त करना, सुदूर भारतीय गाँव के बारे में प्रस्थापनाएँ, किन्तु जिनके बारे में जो यहीं के तथाकथित 'मजदूर वर्ग के अग्रणी' हैं, उन्हें कुछ कहने, समझने की इजाजत नहीं थी। उन्हें केवल आदेश का पालन करना था 'तुम्हें केवल करना और मरना है', जैसे क्रीमिया युद्ध में हुआ था। रोमेश का (इन सबमें) विश्वास ज्यादा दिन तक रहा। द्वन्द्ववाद की विजय निश्चित प्रतीत होती थी और वह बार-बार जोर देता था कि 'सभी किसानों' का मतलब स्पष्टतः सभी किसानों से है। लेकिन अजय बार-बार एक तरफ से दूसरी तरफ माथा हिलाता और पूछता 'मगर मैं इस पर कैसे आश्वस्त हो सकता हूँ?' और चूँकि वह दस्तावेज तैयार कर रहा था जो डांगे और जोशी समेत सबके दस्तावेज को चुनौती देता, वह कुछ शुरू ही नहीं कर पा रहा था जब तक यह कुहासा ('सभी किसान') उसके दिमाग पर छाया हुआ था?

यह भी कहा जाता था कि इस बात का मतलब डाक या टेलीफोन से पूछकर सुनिश्चित नहीं किया जा सकता था क्योंकि सब पर जासूसी होती थी। इसलिए इस मामले पर सोचते हुए उसे (अजय को) एक विचार सूझा, जो उसे बेजोड़ लगा। वह मेरी ओर घूमा और कहा, 'क्यों नहीं तुम लन्दन चली जाओ और आर.पी.डी. से पूछकर आ जाओ?' मैं बिलकुल इस बात के लिए तैयार नहीं थी, चकित होकर मैंने प्रतिवाद किया। माला केवल डेढ़ साल की थी (यह 1950 के उत्तरार्ध का प्रसंग है) और मैंने अब तक उसे एक दिन के लिए भी अकेले नहीं छोड़ा था। हमारे पास टिकट के लिए पैसे भी न थे, और सबसे बढ़कर, इस आदमी (अजय) की नपुंसकता को देखकर मेरे पेट में गुस्से से मरोड़ उठती थी।

किन्तु मेरे पास कोई रास्ता न था। रोमेश और अजय ने इसे बड़ी चतुराई से तय कर दिया। जब हमने (1947 में) लन्दन छोड़ा था तो पेंग्विन (प्रकाशन) के अलेन लेन ने हमारे लिए एक पार्टी रखी थी जिसमें उसने मुझे सुझाव दिया था कि मैं भारत में पेंग्विन एजेंसी का पूरा करोबार ले लूँ। हमारे पास वैसी एजेंसी चलाने के लिए संसाधन न थे। मेरी दिलचस्पी भी नहीं थी, और इसीलिए टेबल के नीचे से रोमेश की हल्की ठोकर के दबाव के बावजूद मैंने उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। अब रोमेश ने योजना बनाई कि मैं उस विचार को पुनर्जीवित करूँ, लेन को लिखूँ, अपने पुराने मित्र एसिया पब्लिशिंग हाऊस के पीटर जयसिंह से सम्पर्क करूँ, कि क्या वह इस एजेंसी को चलाने में दिलचस्पी लेगा जिसे मैं कम्पनी में हिस्सेदार के रूप में चला सकती हूँ। (और इस काम के बहाने, पीटर के खर्च से, लन्दन जाऊँ)

मैं इस पूरी योजना के प्रति सन्देह में थी, यह भी नहीं जानती थी कि लेन को वह बात याद भी रही होगी कि नहीं, लेकिन रोमेश और अजय को विश्व क्रान्ति के

महानतर ध्येय के रास्ते में कुछ भी नहीं डिगा सकता था। तो मैं गई और पीटर (जो बेचारा इसके पीछे की बात नहीं जानता था) से इसकी चर्चा की, जो इस प्रस्ताव को सुनकर प्रसन्न हो गया। हमने सारी तफसील पूरी गम्भीरता से तैयार की, और मैंने अपने को लगभग समझा लिया कि इसमें कोई धोखाधड़ी नहीं है और लेन को पत्र भेज दिए गए और मेरा उससे मिलने का समय तय कर दिया गया। पीटर ने खुशी-खुशी मेरी यात्रा का खर्च दिया जो उस समय केवल तीन हजार रुपये था किन्तु मैंने इसे अपनी आत्मा पर ग्रेनाइट की चट्टान जैसे बोझ के रूप में महसूस किया, और घबड़ाते हुए मैं अपने मिशन पर चली।

जब साल्मे (आर.पी.डी. की पत्नी) ने मुझे कहा था कि मैं कुछ मामले में धोखेबाज हूँ, तो मुझे नहीं लगता कि उसने अपनी टिप्पणी के महत्व को समझा होगा क्योंकि मैं वास्तव में कई चीजों में धोखा देती हूँ, यह दिखाते हुए कि मैं शान्त और विश्वास से भरी हूँ और गहरे अन्दर चूहे की तरह काँप रही होती हूँ। ठीक यही मेरी हालत थी जब मैंने लन्दन में कम्बरलैण्ड होटल के लिए टैक्सी ली। यह गन्दा होटल था और मुझसे मिलने आए शरीफ अतहर अली ने मेरे कानों में हीरे देखकर मुझे वहाँ के जवाहरात चोरों से सावधान रहने को कहा था।

मैंने होटल पहुँचते ही अपने को कमरे में बन्द किया, फोन उठाया और आर. पी.डी. को मिलाया। वह मेरी आवाज सुनकर चकित हुए, यह सोचकर कि मैं बम्बई से बोल रही हूँ। जब मैंने कहा कि मैं लन्दन में हूँ और एक बड़े जरूरी मिशन में आई हूँ, तो वह बड़े चिन्तित हुए। मैंने आगे कहा, “अजय जानना चाहता है कि क्या ‘सभी किसानों’ का मतलब सभी किसानों से है?” दूसरी तरफ कुछ क्षण ऐसी चुप्पी रही मानो प्रश्न पर विश्वास न हुआ हो। मैंने आगे स्पष्ट किया कि मैं *कोमिनफॉर्म* के लेख से सम्बन्धित चर्चा कर रही हूँ। “ओह,” उन्होंने कहा, “स्वाभाविक रूप से सभी किसानों का मतलब सभी किसानों से है! और इसका क्या मतलब हो सकता है, माई डियर।” हाँ, सचमुच इसका आखिर और क्या मतलब हो सकता था?

इसने मेरे कम्युनिस्ट नेताओं की महानता के बारे में अन्तिम, बचे-खुचे, भ्रमों को भी तोड़ दिया। ...उस भेंट में आर.पी.डी. के साथ अन्तिम बात-चीत ने मेरे मष्तिष्क के गहरे कोने में बड़ा सा प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया। मैं हाइट हॉल लॉज में उनके घर पर गई थी। उनसे दुनिया भर के विषयों पर भरपूर, सुखद बातचीत हुई। वह मुझे छोड़ने ट्यूब स्टेशन तक आए जब मैंने उनसे यों ही यह भी चर्चा की कि हम लोग (राज और रोमेश) एक बार फिर पार्टी सदस्यता के लिए आवेदन करने जा रहे हैं। उन्होंने एकाएक कहा, “नहीं, नहीं, ऐसा मत करना। तुम्हारे और रोमेश के लिए पार्टी सही जगह नहीं है। बस तुम दोनों जो कर रहे हो, करते रहो, तुम जो भी चाहते हो करो, मगर पार्टी नहीं।”

मैं जमकर रह गई, “आपका क्या मतलब है?” मैंने उनसे पूछा, मगर वे दुहराते रहे “नहीं, नहीं” लगभग अस्फुट रूप से। अपने अस्तित्व में जड़ तक हिल गई मैं ट्रेन में बैठी उनकी बातों का कोई अर्थ समझने की कोशिश करती रही। यह लीजिए, आर. पी.डी. मुझे पार्टी सदस्य बनने से मना कर रहे हैं जबकि उन्होंने अपनी जिन्दगी के सर्वश्रेष्ठ वर्ष यूरोप में एक भूमिगत स्थिति से दूसरी भूमिगत स्थिति में रहकर कष्टपूर्वक ईंट-ईंट जोड़कर पार्टी का आधार खड़ा करने में बिताए जैसा एक बार साल्मे ने कभी मुझे विस्तार से बताया था। तो उनका मतलब क्या है? यह तो हो नहीं सकता कि वह हमें पार्टी सदस्य बनने लायक नहीं समझते थे। मैं इसके बारे में निश्चित थी। अभी जिस तरह से उन्होंने इस बात को रखा था, ऐसा लगा जैसे वह हमें किसी चीज से बचाने की कोशिश कर रहे हों, कोई ऐसी बात जो हमें मालूम नहीं, हमें पार्टी से बचा रहे हों।

(राज पर इस बात-चीत के बाद ऐसा असर पड़ा कि वह पेंग्विन वाली डील, जो सम्भव थी, बिना किए लौट आई)...रोमेश और अजय मेरी वापसी की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे। अजय का भावहीन, जड़ चेहरा एक बार खिल गया और उस दिन जब वह जा रहा था, वह हमारे फ्लैट की सीढ़ियों पर रुका और कहा, “तुम्हारा नाम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास में सोने के अक्षरों से लिखा जाएगा।” मैं उसे देखकर शर्मिन्दगी महसूस कर रही थी, कि वह सोच रहा था कि इन शब्दों से उसने मुझे खुश किया है, कि वह नहीं जानता कि उसने मेरे लिए जिस धातु की चर्चा की, वह मेरे लिए उन सब चीजों का प्रतीक है जिससे मैं भाग रही थी। उसके लिए भी यही बात होनी चाहिए थी।

मैंने वहीं उसी समय उसे कह दिया कि मेरे मन में इस पूरे प्रसंग को लेकर सहजता नहीं है, कि इस पूरे मामले में कोई गुटबाजी जैसी चीज लगती है। आर.पी.डी. (रोमेशचन्द्र) की आँखों में वह विशेष भाव, स्कीमिंग, ऊपर हो जाने की गुस खुशी, जिसने मेरे सन्देह को प्रत्यक्ष कर दिया। उन दोनों (अजय और रोमेशचन्द्र) को देखकर आप कह सकते थे कि उन्हें लग रहा था कि उन्होंने पोलित-ब्यूरो के दूसरे सदस्यों से आगे बढ़कर कोई अंक अर्जित कर लिया है। (पृ. 91-96)

(यह तब का प्रसंग है जब थापर दम्पति दिल्ली आ चुके थे और अजय घोष कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव थे। पिछले बारह वर्षों से अजय ने थापर दम्पति से सम्बन्ध तोड़ रखा था, और एकाध बार कहीं आकस्मिक भेंट हो जाने पर एकदम अनजानापन दिखाया था।) यह 1962 में कोई समय था जब पेरिन ने मुझे एक दिन फोन किया और कहा कि अजय हमसे मिलना चाहता है और क्या हमलोग रात के खाने पर आ सकते हैं। मेरी तुरत इच्छा हुई कि चीखकर कहूँ ‘नहीं’, जोर से और साफ-साफ, मगर कुछ क्षण में उत्सुकता हावी हो गई और हम तैयार हो गए। आसफ

अली रोड पर पेरिन के फ्लैट में उस रात हम पहुँचे। जैसे ही हमने प्रवेश किया अजय खड़ा हो गया, अटपटे ढंग से रोमेश को गले लगाया, दबी हुई गर्मजोशी दिखाने में लड़खड़ाता हुआ, दबा हुआ उत्साह, जो उसके स्वभाव के विपरीत था। मैं पीछे खड़ी रही, चुप, मन में यह सोचते हुए कि आरोपों की वह पूरी श्रृंखला उस पर उड़ेल दूँ जो इतनी लम्बी थी कि उससे उसका दम घुट जा सकता था। आर.सी. चतुराई से मामले को सँभाल रहा था, और बातचीत को अतीत से बचाकर चल रहा था, तो आखिर मैंने भी तय किया कि जाने दो पिछली बातों को। रोमेश कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के बारे में जोर-जोर से बोल रहे थे, कि उसे क्या होना चाहिए, कैसे उसे तात्कालिक समस्याओं से जुड़ना चाहिए, और अजय उनसे सहमत होते रहे, सिर हिलाने में अपने कान भी फड़काते हुए, मतभेद का कोई लेश तक नहीं। यह शायद उसकी हमसे क्षमा-याचना का रूप था, और यह ईमानदारी भरा भी लग रहा था लेकिन मेरे लिए यह बिलकुल पर्याप्त नहीं था। हालाँकि मैं यह महसूस कर रही थी कि समय हरेक गुस्से और मन को जलानेवाले हर विरोध-भाव को, सब कुछ समाहित कर लेता है। (पृ. 192-93)



खस और पैशाची भाषाएँ

राजमल बोरा*

खस भाषा मध्य एशिया को भारत से जोड़नेवाली भाषा है। हिमालय के उत्तर से हिमालय के दक्षिण को जोड़ने वाली भाषा है। हिमालय की उपत्यका के पर्वतीय बोली भाषाओं से उसका सम्बन्ध है और पैशाची की तरह उसका भौगोलिक विस्तार भारत में हुआ है। भारत की आधुनिक बोलियों में उसके बदले हुए रूप आज भी जीवित हैं। मैं इस भाषा-बोली का उपलब्ध परिचय देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने मध्य एशिया का इतिहास भाग-1 में लिखा है '**खस**: इस जन का ग्रीक या ईरानी स्रोतों से पता नहीं लगता। तालमी और दूसरे लेखकों ने हिमालय के खसों का वर्णन किया है और हमारे लिए आज भी यह एक जीवित जाति है। गिलगित-चित्राल में कसकर, कश्मीर में कश, काशगर में खशगिरि और कश्मीर से पूरब नेपाल तक खस या खसिया जाति तथा नेपाली भाषा का दूसरा नाम खसकुरा (खस भाषा) यही बतलाते हैं। पीतल युगमें तरिम-उपत्यका इनका निवास थी। हूणों से भगाए जाने के बाद जब तक कि लघु-यूची इनकी भूमि में छा न गए, तब तक सारी उपत्यका खसभूमि थी।'¹

महापण्डित राहुल खस जाति एवं शकों में समानता दिखाते हुए लिखते हैं 'साधारण कब्रों में भी खान पान सहित बरतनों का रखा जाना आवश्यक समझा जाता था। यह प्रथा शक की एक शाखा खसों में ईसवी सन् के आरम्भ से पीछे तक भी पाई जाती थी, यह लदाख से कुमाऊँ तक मिलनेवाली खस-समाधियों से सिद्ध है।'²

खस भाषा के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि यह प्रधान रूप से पर्वतीय भाषा है। दूसरी विशेष बात यह है कि यह भाषा कबीले की भाषा है। पैशाची की तरह यह लुप्त हो गई है और पर्वतीय प्रदेशों की आधुनिक बोलियों के रूप में जीवित

* प्रोफेसर राजमल बोरा एम.ए. पीएच.डी., डी. लिट., हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक एवं समालोचक एव डा. बाबा साहब अम्बेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय औरंगाबाद के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे हैं।

है। इस भाषा को किसी समय राजनीतिक महत्व प्राप्त था और इसका भौगोलिक विस्तार हिमालय के उत्तर और दक्षिण में था और जिसने नेपाल तक विस्तार प्राप्त किया, वह भाषा अचानक लुप्त क्यों हो गई? खस भाषा वस्तुतः पैशाची की समकालीन भाषा थी। वह वैदिक संस्कृत की समकालीन लोक भाषा है। उसे प्राकृत नहीं कहा गया है। खस भाषा का उल्लेख स्वतंत्र भाषा के रूप में मिलता है। इस भाषा पर स्वतंत्र ग्रंथ श्री हरिशंकर जोशी ने लिखा है किन्तु पुस्तक को उन्होंने दार्शनिक रूप दे दिया है। दूसरी बात यह है कि पुस्तक का नामकरण भी दार्शनिक है। वस्तुतः पूरी पुस्तक खस भाषा पर केन्द्रित है। पुस्तक का नाम है 'प्रतिभा दर्शन (भाषा तत्वशास्त्र), शीर्षक को देखकर उसे स्वतंत्र रूप में खस भाषा की पुस्तक कौन मानेगा? लेखक की मन्यता है कि कुमाउनी वस्तुतः खस भाषा का आधुनिक जीवित रूप है। खस भाषा परिवर्तित रूप में कुमाउनी है। इस नाते से कुमाउनी भाषा का तात्त्विक विवेचन, खस भाषा के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत है। खस भाषा का ऐतिहासिक विवेचन वैदिक काल के संदर्भ में दिया गया है। खस भाषा पर जैसे श्री हरिशंकर शर्मा ने पुस्तक लिखी है, वैसी पुस्तक पैशाची पर नहीं मिलती। वस्तुतः खस भाषा का जैसा सम्बन्ध वैदिक संस्कृत से रहा (बतलाया गया) है वैसा संबंध प्रयत्न करने पर पैशाची से भी बतलाया जा सकता है। यों पैशाची और खस भाषाएँ वैदिक संस्कृत की समकालीन भाषाएँ हैं। पर्वतीय प्रदेशों की भाषाएँ होने पर भी इन भाषाओं का भौगोलिक विस्तार भारत में हुआ है। पैशाची में लोक-वाङ्मय रहा है, वह लुप्त है। जो उपलब्ध है, वह संस्कृत में अनूदित रूप में है। खस भाषा में लोक वाङ्मय रहा होगा, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

खस भाषा का नामकरण खस जाति से जुड़ा हुआ है। इसके सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने लिखा है

“वर्तमान युग में सपादलक्ष प्रदेश में, पश्चिम में कनेत तथा पूर्व में खस जातियाँ निवास करती हैं; जिनका व्यवसाय कृषि है। 'कनेत' लोग दो उपजातियों में विभक्त है। इनमें से प्रथम उपजाति खसिया नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने शुद्ध होने का दावा करती है और अन्य लोग 'राव' (राजा या राजपूत) कहे जाते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि वे संकर जाति के हैं। दूसरी ओर, इस क्षेत्र के समस्त मुखियागण अपने को राजपूत वंश का बतलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण सपादलक्ष प्रदेश में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो अपने को खस अथवा खसिया नाम से सम्बोधित करते हैं। यह लोग संस्कृत साहित्य के 'खश', 'खस' अथवा 'खशीर', लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा ये लोग ग्रीक भूगोलवेत्ताओं द्वारा वर्णित 'कसिओई' लोग ही हैं, इनमें

किसी प्रकार की शंका गुंजायश नहीं है। पिशाच लोगों की ही भाँति, जिनकी भाषा से आधुनिक दर्दीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई है, इनके प्रति यह कहा जाता है कि ये लोग कश्मीर के संस्थापक कश्यप के वंशज हैं। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'राजतरंगिणी' में उन्हें प्रायः वहाँ के शासकों के पार्श्व में चुभनेवाले कंटक की भाँति चित्रित किया गया है। महाभारत में उन्हें बहुधा पश्चिमोत्तर देशवासी तथा पिशाच और कश्मीर निवासियों से विशेष सम्बन्धित बताया गया है। वे आर्य थे, किन्तु वे विशुद्ध आर्य-सभ्यता की परिधि के बाहर ही रह गये थे। अन्य संस्कृत ग्रंथों ने, जैसे कि हरिवंश पुराण और विभिन्न स्मृति-ग्रंथों ने एक मत से उनका पश्चिमोत्तर प्रदेश में होना स्वीकार किया है। परवर्ती युग में, वे पूर्व की ओर सम्पूर्ण सपादलक्ष प्रदेश में फैल गए और जहाँ आज हम उन्हें पाते हैं, उस उर्वर भूमि को जीतकर अधिकृत कर लिया। इनके कुछ और बाद, प्रायः सोलहवीं शताब्दी में वे नेपाल में गोरखाआक्रमण में अग्रसर हुए। वहाँ तिब्बती अथवा मुण्डा जातियों में, जिन्हें उन्होंने वहाँ पाया था वे मिल गये और खस जाति के रूप में उसी देश के शासक बन बैठे। हम यह देख चुके हैं कि प्राचीनकाल में ये खस लोग पिशाचों से सम्बन्धित थे। मूलतः वे निश्चित रूप से उन्हीं की भाँति दर्दीय भाषाएँ बोलते थे, क्योंकि सम्पूर्ण सपादलक्ष प्रदेश में इस भाषा की विशेषताएँ उपलब्ध हुई हैं। हम ज्यों ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों भाषा की ये विशेषताएँ लुप्त होती जाती हैं।”³

ध्यान देनेवाली बात यह है कि ग्रियर्सन ने 'खस भाषा' को भी *दर्दीय भाषा* कहा है। वह आर्य परिवार की नहीं, दरद परिवार की है। इसी तरह पैशाची को भी दर्दीय भाषा कहते हैं और वह भी दरद परिवार की है। फिर ये भाषाएँ वैदिक संस्कृत की समकालीन हैं। श्री हरिशंकर जोशी ने इसे (खस भाषा को) वैदिक संस्कृत के आधार पर परखा भी है।

खस जाति और भाषा का पौराणिक परिचय श्री हरिशंकर जोशी ने दिया है। इस परिचय में खस के साथ-साथ पैशाची का विवरण भी है। यों खस भाषा, पैशाची और वैदिक भाषा का स्वरूप समकालीन है। विवरण इस प्रकार हैं

“सबसे पहले इनका नामोल्लेख करते हुए शतपथ ब्राह्मण (1-7-3-8) में कहा गया है कि ये लोग 'भव' नामक अग्नि की उपासना करते थे तथा वाह्लीक देश में रहते थे। यास्काचार्य के समय तक ये लोग कम्बोज देश तक चले आये थे। अतः यास्क ने लिखा है कि ये लोग गति अर्थ में 'सवति' धातु का प्रयोग करते थे। *सवति गता कर्मा काम्बोजेषु*। भरत मुनि इनहें वाह्लीक देशी खस नाम से पुकारते हुये इनकी भाषा को 'उदीचाम्' नाम से पुकारते हैं। इस उदीचाम् नामक भाषा को वे वाह्लीक खशोंकी भाषा बतलाते हुए कहते हैं 'वाह्लीक भाषोदीचानां खशानां च स्वदेशजा'। इनके अभिप्राय से वाह्लीक और खशों की एक ही भाषा है। इस प्रकार ये यास्क दर्शित भेद काम्बोज भाषा में आये स्वीकृत-परिवर्तन को प्रामाणिक सिद्ध कर देते हैं। इस बात

की पुष्टि वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के दिये हुये संस्कृत के दो भेदप्राचाम् और उदीचां, अथवा विभाष या अन्तरस्याम् के भेदों में, उदीचां की संस्कृत इन्हीं खस आर्यों की है। उदीचां ही वाह्लीकी या काम्बोजी है। मनुस्मृति (10-22) ने इन्हें पतित क्षत्रिय बतलाया है। पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण (3-19-21) ने लिखा है कि 'खश' आर्य कश्यप और क्रोधवशा के पुत्र थे, पर इनको पिशाचों और यक्षों का समकक्ष बनाकर यह व्यङ्ग्य किया है कि खश आर्य पिशाचादि की तरह नर भक्षी थे। यहाँ पर ग्रन्थ ने इन्हें हिन्दुकुश पर्वत श्रेणी का निवासी बतलाया है (3-19-24)। यहाँ पर खशों को 'कशीरी' या 'खश' नाम से पुकारा है। मार्कण्डेय पुराण (1-21) का कहना है कि खश आर्यों का निवास स्थान मेरु और मन्दराचल पर्वतोंके मध्य (वाह्लीक) में था।”⁴

और अन्त में राजतरंगिणी का संदर्भ देते हुए लिखा है

“कश्मीर का डोगरा राजवंश खस जाति का है। तंग नाम का एक साधारण ग्वाला धीरे-धीरे अपनी परिस्थिति को उठाकर, रानी दिदा का मंत्री बन गया। इस तंग ग्वाले मंत्री की सन्तान ने कश्मीर की राजगद्दी संभाली इससे और पूर्वोक्त ग्रंथों के उद्धरणों से यह पुराष्ट मत हो जाता है कि खस जाति ने उत्तरी पश्चिमी भारत को हस्तगत करके वैदिक आर्यों को आगे की ओर ढकेल दिया था। पुराणों ने जो इन्हें नर भक्षी, पिशाचादि नाम दिये हैं, वह इनसे चिढ़कर। पर उन्हें आर्य सिद्ध करने के लिए कश्यप ऋषि का पुत्र भी माना है और वह महत्त्व का उल्लेख है। वितस्ता (व्यास) नदी की उपत्यका भी खस राजाओं की मुख्य भूमि थी, यहाँ का प्रत्येक मण्डलेश्वर अब तक 'रक्खा' कहलाता है। यह 'रक्खा' शब्द भी खस शब्द से ही निकला है। यह स्वतः स्पष्ट है।”⁵

खस जाति के भौगोलिक विस्तार को नक्शों के आधार पर हरिशंकर जोशी ने दिखलाया है। इन नक्शों में वैदिक का नक्शा है, महाभारत काल का नक्शा है। कुछ और भी नक्शे हैं। यों खस भाषा भारत की मूल भाषा प्रतीत होने लगती है। पैशाची का भौगोलिक विस्तार तो समझ में आता है, किन्तु खस भाषा का भौगोलिक विस्तार समझ में नहीं आता। पर्वतीय क्षेत्रों तक केनेपाल तक केभौगोलिक विस्तार को तो समझा जा सकता है किन्तु मैदानी क्षेत्र में और समस्त भारतवर्ष में उसके भौगोलिक विस्तार पर तो विचार करने की आवश्यकता है। प्राकृत भाषाएँ कहाँ गायब हो गई, यह प्रश्न रह जाता है। पैशाची को तो व्याकरण-ग्रन्थों में स्थान मिला है, उस रूप में खस भाषा का उल्लेख नहीं मिलता। जो उल्लेख मिलते हैं, वे पर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित हैं। लेखक का मानना है कि महाभारत के काल में खस राजाओं की संख्या अधिक रही है। लेखक ने वैदिक वंश में दीक्षित राजाओं को खस राजाओं से अलग

किया है। वैदिक सभ्यता को, खशों की सभ्यता से अलगवाव है। दोनों के संघर्षों को इसी नजरिए से देखा है। लिखा है

“जहाँ पुरु वैदिक वंश राज्य कर रहा था, अब वहाँ पुरुजित आ गया है। पुरु राज्य समाप्त हो गया। पुरुजित् कुन्तिभोज का पुत्र है, स्वयं कुन्तिभोज ने अनुसु, द्रुह्य राज्यों को (पश्चिमी पंजाब, कश्मीर, गान्धार) हड़प लिया है। शिबि वंश ने यदुवंशियों की दुर्दशा करके उशीनर राज्य की स्थापना कर ली है। मत्स्य वंशी वैदिक राजाओं को चेकितान ने कुचल डाला है। यदु और मत्स्यों में से अधिकांश भागकर शूरसेन में खेतिहर बन गये हैं, खशों की सभ्यतारासलीला बाँसुरी में मस्त हो गये हैं। इनके शिर पर भी कंस खश आर्य राजा हैं जो इन्हें बराबर सताये जा रहा है। उनसे वैदिक घर्म दीक्षित अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल कर खश के प्रचार में ध्यान लगा लिया है। बुन्देल खण्ड में (चेदि देश) शिशुपाल और धृष्टकेतु नामक खश राजाओं का प्रमुख है तो अंग में जरासन्ध नामक खश राजा था। जो खश राजा उत्तर भारत में प्रवेश पाने के लिए परशुराम से हताश हो भागे थे, वे सिंध गुजरात के रास्ते बिहार-बंगाल तक प्रवेश कर गये हैं। हम इन राजाओं को खश आर्यों से, एक तो ऐतिहासिक घटनाओं के कारण तादात्म्य करने को बाध्य हैं, दूसरे महाभारत ने कंसादि सब राजाओं को राक्षस नाम दिया है। ये राक्षस ‘राज-खश हैं, राजा खश हैं या खश राजा है...।’⁶

मूल बात यह है कि खश अवैदिक थे। और अवैदिकों ने वैदिकों को परेशान किया। संघर्ष बहुत लम्बा है। प्रत्येक वंश की अलग गाथा है। ऐसी स्थिति में हमें इस बात पर विचार करना है कि खस भाषा का भौगोलिक विस्तार क्यों नहीं हुआ? यह बात समझ में नहीं आती। पैशाची ने लोक भाषा का रूप धारण किया और उस भाषा का भौगोलिक विस्तार प्रतिष्ठान तक हुआ है। इस रूप में खस भाषा का भौगोलिक विस्तार नहीं हुआ। खस भाषा पर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित रहीं राक्षसों की या खश राजाओं की भाषा खश थी तो उस भाषा को लुप्त नहीं होना चाहिए था। किन्तु श्री हरिशंकर जोशी महाभारत काल तक खस भाषा को बतलाते हैं। महाभारत के बाद खस क्यों लुप्त हो गई? इसका कारण नहीं बतलाते। पाण्डवों के स्वर्गारोहण को खस भाषा से जोड़ते हैं और खस भाषा को कुमाऊँ क्षेत्र तक पहुँचा देते हैं। कुमाउनी भाषा का खस भाषा का विवेचन आगे विस्तार से करने लगते हैं।

खस भाषा का इतिहास कुमाउनी से जोड़ा गया है। वास्तव में महाभारत के काल में वह लुप्त हो गई। पैशाची तो खस भाषा के बाद में भी जीवित रही है, वह तो अशोक के काल तक ही नहीं अपितु सातवाहनोंके काल तक जीवित रही है।

गुणाद्वय स्वयं इसका प्रमाण है।

खस भाषा को वैदिक संस्कृत की समकालीन भाषा माना गया है और उसी रूप में उसका शास्त्रीय विवेचन हरिशंकर जोशी की पुस्तक में है। जोशीजी ने खस को लौकिक संस्कृत से नहीं जोड़ा। वैदिक संस्कृत को आधुनिक भाषाओं के साथ जोड़ने में जोशीजी ने विपुल श्रम किया है। इस प्रयास के कारण भारतीय भाषाओं के इतिहास पर नई जानकारी मिलती है। ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से जोशीजी की पुस्तक महत्वपूर्ण है। महाभारत के मिथकों को उन्होंने नया अर्थ दिया है। एक ओर प्रचलित मिथकों को तोड़ा है और उन्हें इतिहास का स्वरूप देने में नये मिथकों की परिकल्पना की है। महाभारत के संघर्ष को खस जाति के संघर्ष के रूप में दिखलाया है। वैदिक और अवैदिक कह दिया है। खस को अवैदिक और राक्षस का नाम दिया है। इन खशों का संहार श्रीकृष्ण ने किया है। पाण्डवों को वैदिक माने या अवैदिक मानें? क्योंकि पाण्डवों को कुमाऊँ पहुँचा देते हैं स्वर्गारोहण का मिथक यही है। वैदिक काल को महाभारत के काल तक पहुँचा देते हैं। आगे का इतिहास आधुनिक कुमाउनी का इतिहास है।

जोशीजी मानते हैं कि ‘भारत के तथा भारतीय भाषाओं के इतिहास का निर्माण, कुमाउनी के सम्पूर्ण पहलुओं के अध्ययन के बिना, कठिन ही नहीं नितान्त असम्भव सा है।⁷ यों जोशीजी की पुस्तक में बोली का विवेचन है। खस भाषा, और बाद में कुमाउनी भाषा, बोलियों के रूप में हैं। वैदिक संस्कृत का उपयोग भी बोली रूप में है। पैशाची और खस भाषाएँ वैदिक काल की समकालीन बोलियाँ हैं। पैशाची भी पर्वतीय क्षेत्र की बोली है और खस भी पर्वतीय क्षेत्र की बोली है। पर्वतीय क्षेत्रों की बोलियों का भाषा-भूगोल अलग है और मैदानी क्षेत्र का भाषा-भूगोल अलग है। प्राचीन भाषाओं के भाषा-भूगोल को आधुनिक भाषाओं के भाषा-भूगोल से जोड़कर देखने की आवश्यकता है। इतनी बात स्पष्ट हो गई कि पैशाची पश्चिमी क्षेत्र की है और खस पूर्वी क्षेत्र की है। दोनों ही वैदिक काल की समकालीन बोलियाँ हैं। उन बोलियों से आज की बोलियों से सीधा ऐतिहासिक सम्बन्ध हैं। वस्तुतः दोनों ही बोलियाँ अपना मूल रूप खो चुकी हैं और बदलते-बदलते वर्तमान बोलियों में परिणत हैं। ग्रियर्सन ने पैशाची भाषा पर स्वतंत्र पुस्तक लिखी है। इसका प्रथम संस्करण 1906 ई. में प्रकाशित हुआ। नया दूसरा संस्करण 1969 ई. में छपा है। उसमें पैशाची के इतिहास की झलक है। “उसके अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से पैशाची भाषा न तो ईरानियों की भाषा के अन्तर्गत रखी जा सकती है और न तो उसका सम्बन्ध भारतीय आर्यभाषाओं से है। दोनों से भिन्न यह भाषा है और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते आई है। आज जहाँ बुरुशकी बोली जाती है और उसका जो मूल क्षेत्र है, वही प्राचीन काल में पैशाची का क्षेत्र रहा है। पैशाची के कबीले पर्वतीय क्षेत्रों में आगे बढ़ते रहे हैं। सिंध नदी के दक्षिणी तटों तक इसका विस्तार रहा है। पैशाची बोलने वाले कैकय

प्रदेश में थे। पश्चिमी पंजाब में थे और ब्राचड़ प्रदेश में अर्यात् सिंध में थे। आज तो इन प्रदेशों में सिंधी और लहंदा भाषाएँ हैं। लहंदा और सिंधी दोनों ही वर्तमान पैशाची के रूप हैं। उन्हें आधुनिक पैशाची कहा जा सकता है। शाहबाजगढी के अशोककालीन अभिलेख पैशाची में है। लहंदा, सिंधी तो आज भारतीय भाषाएँ हैं। (1806 ई. की पुस्तक है, आज वह क्षेत्र पाकिस्तान में है)। पैशाची का भौगोलिक विस्तार पश्चिम में ईरानी क्षेत्र तक भी मिलता है। उनमें दो प्रधान भाषाएँ हैं गलक या तलका (Ghaloeh, properly Talcah) पामीर में बोली जाती है। इसी तरह पश्तो भी है।⁸

पैशाची का जैसे इतिहास उपलब्ध है। ठीक वैसे खस भाषा का इतिहास नहीं मिलता। उसके वर्तमान रूप कुमाऊँ और गढ़वाल में प्रधान रूप से मिलते हैं। इसी तरह नेपाल में भी मिलते हैं। उसका विस्तार असम तक भी बतलाया जाता है किन्तु प्रधान केन्द्र कुमाऊँ और गढ़वाल है। पश्चिम में उसका विस्तार कश्मीर तक है। यह भाषा हिमालय के उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्रों को जोड़ने वाली है। आज इन क्षेत्रों में जो बोलियाँ प्रचलित हैं, उनमें खस भाषा के ही विविध रूप हैं।

वस्तुतः न तो पैशाची पूरी तरह मृत है और न ही खस पूरी तरह मृत है। दोनों के भौगोलिक क्षेत्रों की बोलियों के रूप में आज भी वे जीवित हैं। इन दोनों में पैशाची में लोक वाङ्मय लिखा गया है। और बाद में संस्कृत तथा प्राकृत के वैयाकरणों ने पैशाची का उल्लेख प्राकृत के अन्य रूपों के साथ किया है। इस रूप में खस भाषा का ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है। सम्राट अशोक के समय में तो प्राकृत का भौगोलिक विस्तार हो गया था। हमें प्राकृत भाषा का उल्लेख बहुत बाद में गौतम बुद्ध और भगवान महावीर के समय के बाद में मिलता है। देश का ऐतिहासिक विवरण भी ठीक से गौतम बुद्ध के समय से मिलते हैं। अशोक कालीन अभिलेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्राकृत भाषा का भौगोलिक विस्तार देश भर में हो गया था। सुदूर दक्षिण में और सिंहल देश (लंका) तक भी प्राकृत भाषा फैल गई थी। वह लौकिक भाषा थी और व्यवहार की भाषा थी। संस्कृत भाषा के समानान्तर रही है। लौकिक संस्कृत और प्राकृत (व्यावहारिक रूप में लौकिक) का भौगोलिक विस्तार साथ-साथ हुआ है। मुझे कहना यह है कि संस्कृत भाषा का इतिहास और प्राकृत भाषा का इतिहास एक साथ चलता रहा है। पहले संस्कृत और बाद में प्राकृत और इसी तरह पहले प्राकृत और बाद में संस्कृत ऐसा भी नहीं हुआ है।

हम लोग वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के अन्तराल को ठीक से नहीं जानते। उसका ठीक-ठीक विवरण (भाषिक इतिहास का विवरण) हमें मालूम नहीं हुआ है। लौकिक संस्कृत जिस तरह प्राकृत से जुड़ी हुई है ठीक उसी तरह लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत से जुड़ी हुई नहीं है। और फिर आश्चर्य यह है कि जिस संस्कृत का भौगोलिक विस्तार देश भर में हुआ, वह लौकिक संस्कृत है पाणिनि की संस्कृत

है वैदिक संस्कृत नहीं है। मैं तो यह मानता हूँ कि लौकिक संस्कृत की सारी शक्ति प्राकृत भाषा के कारण है। कारण यह कि लौकिक संस्कृत किसी भी समय में व्यवहार की भाषा नहीं रही। लौकिक संस्कृत बोली भाषा या मात्र बोलीव्यवहार में नहीं रही। इसके विपरीत प्राकृत भाषा लोक व्यवहार में प्रचलित रही है। उसके भौगोलिक नाम हैं। लौकिक संस्कृत का कोई भौगोलिक नाम नहीं है। लौकिक संस्कृत को ही हम संस्कृत भाषा कहते हैं। वैदिक को अलगाने के लिए लौकिक संस्कृत कहने लगते हैं। इसलिए यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि भारतीय भाषाओं का इतिहास संस्कृत भाषा (लौकिक संस्कृत से) से हुआ है।

हम यह मान सकते हैं कि आधुनिक भाषाओं का इतिहास वैदिक संस्कृत से अधिक जुड़ा हुआ है। ठीक इसी तरह प्राकृत के विविध रूपों (भौगोलिक रूपों) से जुड़ा हुआ है। पैशाची और खस भाषाएँ वैदिक संस्कृत से अधिक जुड़ी हुई हैं। उन भाषाओं के भौगोलिक क्षेत्रों से जैसा हमारा परिचय है, वैसा हमारा परिचय अन्य बोलियों से नहीं है। मूल बात यह है कि बोली से भाषा का विकास तो हमारी समझ में आता है। भाषा से बोली विकास समझ में नहीं आता। और हमारे यहाँ भारतीय भाषाओं का इतिहास लिखते समय *भाषा-भूगोल* की पूरी उपेक्षा की गई है। दूसरी बात यह कि हम भाषा से बोली का विकास दिखलाने लगते हैं; भाषा (संस्कृत) के बोली रूप का परिचय देकर इतिहास की कड़ी को जोड़ते नहीं।

संदर्भ

1. मध्य एशिया का इतिहास भाग-1, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण 1985 ई., पृ. 74।
2. वही, पृ. 68।
3. भारत का भाषा सर्वेक्षण, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, अनुवादक : डॉ. उदयनारायण तिवारी, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 1973 ई., पृ. 353-354।
4. प्रतिभा दर्शन (भाषा तत्त्वशास्त्र), हरिशंकर जोशी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण 1964 ई. पृ. 79-80।
5. वही, पृ. 60
6. वही, पृ. 93-94।
7. वही, पृ. 128।
8. *The Pisaca Languages of North-Western India*-George Abraham Grierson, 1969 AD. Munshiram Manoharlal 10-B, Subhash Marg, Delhi-6-pages 4-5.

हिन्दी और भारतीय संस्कृति

रमानाथ त्रिपाठी*

कोलकाता के एक पार्क में, मैंने एक महात्मा को ओजस्वी स्वर में बोलते हुए सुना था “राम आर कृष्ण के बाद दिए भारतीय संस्कृति ते की थाके? किछुइ थाके ना।”

राम और कृष्ण को निकाल दिया जाए तो भारतीय संस्कृति में क्या रह जाएगा? कुछ भी नहीं। भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं रामायण, महाभारत और भागवत पुराण।

महर्षि वाल्मीकि ने सुन्दर-सशक्त-सुशील महानायक राम के माध्यम से चार प्रकार के प्रेरणाएँ दी हैं

- (1) घर-परिवार-समाज-राष्ट्र और अखिल मानवता के कल्याण के लिए बड़े-से बड़ा त्याग।
- (2) सदाचार-मय नैतिक जीवन-यापन और सेक्स-विषयक पवित्रता।
- (3) उपेक्षित और सन्तप्त जनों के प्रति अपनत्व।
- (4) आततायी शक्ति से निर्भय होकर संघर्ष।

1. दशरथ ने अपने मुँह से कभी नहीं कहा था कि राम, तुम राज्य छोड़कर वन को जाओ। परिस्थितियाँ राम के अनुकूल थीं। यदि वे चाहते तो कैकेयी की उपेक्षा कर राज्य पर अधिकार कर सकते थे। किन्तु, उन्होंने ऐसा न कर पिता के वचनों की रक्षा की और सौतेली माता को सम्मान दिया। भाइयों और पत्नी के प्रति उन्होंने सस्नेह कर्तव्य का निर्वाह किया। सीता-हरण के पश्चात् वे दलदल में फँसे हाथी के समान छटपटाए थे *पंकमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुंजरम्*।¹ कर्तव्य-निष्ठ राजा के रूप में उन्होंने उस *प्राणैः प्रियतरा*² पत्नी का परित्याग कर दिया था जिसके बिना वे एक क्षण को जीवित नहीं रह सकते थे।³ सीता के अभाव में जीवनभर तड़फड़ाते रहे, किन्तु उन्होंने किसी अन्य नारी का पाणिग्रहण नहीं किया। धर्म कार्यों के सम्पादन के लिए उन्होंने सीता की कंचन प्रतिमा का विधान किया था। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रामायण काव्य को ‘एन एपिक ऑफ डोमेस्टिक लाइफ’ धरेलू जीवन का महाकाव्य कहा है। इसे हम कृषि-संस्कृति का महाकाव्य भी कह सकते हैं।

2. वाल्मीकि के शब्दों में राम विग्रहवान् धर्म हैं। वे कभी झूठ नहीं बोलते थे। उन्होंने कभी असहाय का धन नहीं छीना, किसी निरपराध को दण्डित नहीं किया।

* डॉ. त्रिपाठी हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार एवं राम-कथा मर्मज्ञ हैं।

वे परायी नारी की ओर आँख उठाकर नहीं देखते थे।⁴ उन्हें बार-बार प्रजा का हितैषी ‘प्रजानां हिते रतः’ कहा गया है। 1-1-12

3. वनवास के समय उन्होंने निषाद, किरात, वानर, रीछ, गीध, शबर आदि जन-जातियों को अपनत्व और आदर दिया था। वे *दीनानुकम्पी* दीनों पर दया करनेवाले थे।⁵

4. ऋषियों ने राम को बताया था कि चित्रकूट से लेकर पम्पा-सरोवर तक ऋषियों के कंकालों के ढेर लगे हैं। नृशंस राक्षसों ने इन्हें मारा है। उन्होंने राम से सुरक्षा की प्रार्थना की थी। तब राम धनुष की प्रत्यंचा को टंकारते, भारी पगों से धरती कँपाते मानो राक्षसों को चुनौती देते दक्षिण की ओर बढ़े थे। लक्ष्मण ने भी ऐसा ही किया था। यदि सीता-हरण न भी हुआ होता तो भी राम ने राक्षसों से टक्कर ली होती। ऐतिहासिक राम के मन में युद्ध को लेकर कोई संशय नहीं था।

वाल्मीकि-रामायण के रचनाकाल से लेकर मध्यकाल तक राम के चरित का निरन्तर विकास हुआ। वे हमारी समस्त सांस्कृतिक विशेषताओं के पुंज हो उठे। गो. तुलसीदास के रामचरितमानस के राम केवल सद्गुण-सम्पन्न महामानव ही नहीं हैं वे सहृदय ब्रह्म भी हैं। कई अर्थों में वे वाल्मीकि के राम से भी बढ़कर हैं।

‘मानस’ मानो वेद-उपनिषद्-पुराण, काव्य-नाटक, स्मृति, नीति-शास्त्र आदि की समस्त विशेषताओं का सरस निचोड़ है,⁶ जिसने हिन्दी भाषी जनता को गहराई के साथ प्रभावित किया है। जन-जन ने उसके द्वारा प्रतिपादित जीवन-मूल्य अपनाए हैं। वह जन-मन में ऐसा रच-बस गया है कि सुख-दुःख के क्षणों में पठित-अपठित साधारण से लोगों के ओठों से भी उसकी कोई-न-कोई सूक्ति सहज ही फूट पड़ती है। ये सूक्तियाँ हर्ष को बढ़ाती हैं और विषाद के क्षणों में सहारा देती हैं।

‘मानस’ के राम इतने सुन्दर हैं कि उन्हें देखकर फुंकारती नागिनों के फण झुक जाते हैं, उनका विष टपक जाता है। डंक ताने बिच्छू भी अपने क्रोध और विष का परित्याग कर देते हैं

जिन्हि निरखि मग साँपनि बीछी।

तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥ 2.262

युद्ध क्षेत्र में जब खर की सेना ने कोदण्डधारी राम के भुवनमोहन रूप को देखा तो वह हक्की-बक्की रह गई। वह प्रहार करना भूल गई। 3-19

दीनों पर हुए अत्याचार सुनकर राम की विशाल भुजाएँ फड़क उठी थी।⁷ उन्होंने बाहु उठाकर प्रण किया था कि वे अत्याचारियों का समूल विनाश करेंगे।⁸

वे अत्यन्त शील-सम्पन्न थे। निषाद को उन्होंने गले से लगाया था। भोले वनवासियों की बातें ऐसे सुनी थीं जैसे कि वत्सल पिता अपने बच्चों की तोतली बातें सुनता है।⁹ वर्ण-बहिष्कृता शबरी को उन्होंने स्नेहादर दिया था। वे ऐसे कर्तव्य-निष्ठ

प्रशासक थे जिसने प्रजाजनों को अभय दिया हुआ था कि यदि मैं कोई अनुचित बात कहूँ तो मुझे निर्भय होकर रोक दो

जों अनीति कछु भाषौं भाई ।

तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई॥ 7.43

अंग्रेजों तथा अन्य गोरों ने निर्धन असहाय लोगों को झाँसा देकर मॉरिशस, फीजी, गुयाना, सूरीनाम, ट्रिनिडाड और दक्षिण अफ्रीका में बसाया था। अपने को सभ्य समझनेवाले इन नृशंस गोरों ने अमानुषिक अत्याचार किए थे। इन पीड़ित लोगों के सम्बल थे तुलसी के राम। राम के नाम पर संगठित होकर इन्होंने अत्याचारी शक्ति से अपने को मुक्त किया था। इस प्रकार तुलसी का 'मानस' लोकप्रियता, प्रासंगिकता और प्राणवत्ता की कसौटी पर निरन्तर खरा उतरा है।

महात्मा गाँधी को 'मानस' के धर्मरथ-प्रसंग ने प्रभावित किया था। एक ओर था साधन-सम्पन्न रावण और दूसरी ओर थे निःसम्बल राम। राम ने चिन्तित विभीषण को समझाया था कि विजय साधन-सम्पन्नता की नहीं नैतिक मनोबल की होती है। गाँधी जी ने भी नैतिक मनोबल के आधार पर ही अत्याचारी अंग्रेजों पर विजय पाई थी।

महात्मा कबीर, गुरु नानक जी आदि निर्गुण सन्तों ने निर्गुण-निराकार राम को अपनाया था। उन्होंने राम के नाम पर निष्काम भक्ति, सदाचार और नैतिकता पर जोर दिया। ये लोग भी जाने-अनजाने राम के सगुण रूप की ओर संकेत कर गए हैं। निर्गुण-पन्थी गुरु गोविन्द सिंह ने समाज की नब्ज पहचानी थी। उन्होंने ब्रजभाषा में रचित 'रामावतार' काव्य में राम के ब्रह्मत्व को स्वीकार किया है। वे रामचरित के माध्यम से तत्कालीन पीड़ित जनता के मध्य वीरभाव का संचार कर आततायी शक्ति से जूझने की प्रेरणा दे गए हैं।

प्रेममार्गीय कवियों में अधिकांशतः मुसलमान थे। इन्होंने राजकुमार-राजकुमारी की प्रेमकथाओं में हिन्दू घराने की रीति-प्रथा, संस्कार, रहन-सहन, धार्मिक विश्वास आदि का वर्णन किया है। इनकी नायिकाएँ एकनिष्ठ पतिव्रताएँ हैं। प्रेममार्गीय कवियों ने जनता का परिष्कृत मनोरंजन किया है और भारतीय संस्कृति के विकास में अपने ढंग से योगदान किया है।

भारतीय संस्कृति के दूसरे मूलाधार हैं कृष्ण। इन पर रचित महाभारत और भागवत ग्रन्थों ने पूरे देश के साहित्य और समाज को प्रभावित किया है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में भागवत पुराण के कृष्ण ही अधिक अपनाए गए। मानव की मूल प्रवृत्ति है वात्सल्य और श्रृंगार और कृष्ण हैं इन दोनों के केन्द्र।

सूर के शिशु कृष्ण पैर का अँगूठा मुँह में डाल लेते हैं, वे किलककर पलट जाते हैं। नन्द प्रसन्न होकर यशोदा को यह दृश्य देखने के लिए बुला लाते हैं। उनके दो

नन्ही-नन्ही सी दूध-दँतुलियाँ निकल आईं तो यशोदा नन्द को देखने के लिए बुला लाती हैं।¹⁰ वे आँगन में घुटनों के बल दौड़ने लगते हैं, फिर खड़े होकर थोड़ा-थोड़ा चलते हैं। यशोदा मैया घमर-घमर करती दही मथती हैं तो कन्हैया मक्खन पाने की आशा में किंकिणी-नूपुर बजाते हुए नाच उठते हैं। प्रायः बच्चे कच्चा दूध पीने से हिचकते हैं। यशोदा कहती हैं, लाल तू कजरी का दूध पिण्गा तो तेरी चोटी तेरे बलराम दाऊ की चोटी से बड़ी हो जाएगी। कन्हैया एक-दो घूँट लेते ही चोटी टटोलते हैं कि बड़ी या नहीं।¹¹ वे मिट्टी खाते हैं तो माता साँटी लेकर डाँट लगाती हैं। यशोदा तेल-उबटन तैयार करती हैं तो कन्हैया भाग खड़े होते हैं।

जिस प्रकार भारत के प्रत्येक वर-वधू को राम-सीता माना जाता है उसी प्रकार देश के घर-घर के आँगन में खेलनेवाला प्रत्येक बालक कन्हैया है। कृष्ण भक्त कवियों के ऐसे मनोहारी शब्द-चित्र पाठक-मात्र के हृदय में वात्सल्य का माधुर्य भर देते हैं।

श्याम बड़े होते हैं, उनकी भेंट नीली घघरिया पहने खरी गोरी छोरी राधा से होती है, जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं और जो माथे पर रोली का तिलक लगाए है। इनकी भेंट यहाँ-वहाँ दैनिक कार्यों के मध्य होती रहती है और स्वाभाविक रीति से प्रीति का विकास होता जाता है। श्याम अपनी प्रिया को छेड़ते रहते हैं। गाय का दूध दुहते समय वे एक धार प्यारी के मुँह पर मार देते हैं। बालिका प्रिया तुनककर कहती है

तुमसौं कौन दुहावै गैया ।

इत चितवत उत धार चलावत यहै सिखायो मैया॥ 1352

राधा मानो विश्व प्रेमिका हैं। राधा-कृष्ण की प्रीति के बहाने भक्त कवियों ने कामभाव (सेक्स) का उदात्तीकरण किया है। मीरा तो स्वयं ही राधा से तादात्म्य स्थापित कर गई थीं। आकाशवाणी पर जब उनके टीस-भरे गीत गुँजते हैं तो आज भी श्रोता भाव-विभोर हो उठते हैं। इस क्षेत्र में विद्यापति का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। उनकी कोमल-कान्त पदावली की अनुगूँज असम, बंगाल और ओड़िसा तक प्रसारित हुई थी।

कई मुसलमान कवि भी कृष्ण-चरित्र पर रीझे हैं। मुगलानी ताज कन्हैया पर मुग्ध होकर हिन्दुआनी बन जाना चाहती हैं। रसखानि कन्हैया की जन्मभूमि के कण-कण से अपना जुड़ाव रखना चाहते हैं। अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्य में ऐसे रसखानि उपलब्ध हैं।

रीतिकाल के कवि अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए राधा-कृष्ण के श्रृंगारी-रूप का मनोहारी वर्णन कर गए हैं। उनके लिए राधा-कृष्ण सामान्य नायिका और नायक थे। उनके वर्णन में सूरदास, मीरा, रसखानि आदि कवियों की भक्ति-भावना नहीं थी, किन्तु हृदय को गुदगुदा देने वाला माधुर्य अवश्य था, जो

कभी-कभी मर्यादा लाँघ जाता था। ये शृंगारी कवि भी तुलसीदास के मर्यादावादी दृष्टिकोण से अपने को दूर नहीं रख सके। उनके लिए भी जानकी-जैसी पत्नी ही काम्य है

मति बुद्धि जानकी सी गति बुद्धि जानकी सी,
सत बुद्धि जानकी सी पति सुख देत है।

रसलीन, फुटकर 26

पति को पत्नी पर प्यार उमड़ पड़ा। उसने अपने हाथ से प्रिया का शृंगार करना चाहा। उसकी वेणी गुहकार बिन्दी लगाई, पान खिलाया और जब आवेश में आकर उसने पत्नी के पैर में महावर लगानी चाही तो भला वह पतिव्रता पति को चरणों का स्पर्श कैसे दे सकती थी

चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौं,
कही प्रानपति यह अति अनुचित है॥ सेनापति, 2.36

रीति कवियों ने पत्नी की कामकेलि का ही वर्णन नहीं किया उसे धर्म-सहचरी के रूप में भी देखा है। वह पति की दीर्घायु के लिए करवाचौथ का कठोर व्रत करती है,¹² वट-सावित्री व्रत के अवसर पर वट-पूजन करती है।¹³ वह अन्नपूर्णा है। जब वह टटकी-धुली धोती पहनकर राँधने के लिए जाती है तो उसकी चटकीली मुख ज्योति से रसोई जगर-मगर हो उठती है

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति।

लसत रसोई कै बगर जगर मगर दुति होति॥ बिहारी, 477

वह माता भी है। नयी उम्र में जननी बनी बहू पुत्र को गोद में लेने से झिझकती है तो सास-ननद उसे प्यार भरी डाँट लगाती हैं। मतिराम, 150

रीति कवियों ने कृषि-संस्कृति में पलते हुए संयुक्त परिवारों के दम्पतियों के प्रीति-सम्बन्धों का मोहक वर्णन किया है। मर्यादा और वर्जनाओं ने उनकी प्रीति को और भी प्रगाढ़ बनाया है। कवियों ने अपने घर-आँगन और पड़ोस में जो देखा-सुना है उसे ही लिपिबद्ध किया है। उनके ये चित्र किसान, पण्डित, ठाकुर, बनिया, शूद्र आदि के घरों की पतिव्रता बहुओं के हैं।

आधुनिक युग के साहित्य पर भी राम और कृष्ण के चरित की छाप है। *साकेत*, *प्रिय प्रवास*, *कनुप्रिया*, *अन्धा-युग*, *संशय की एक रात* आदि ग्रन्थ तथा कई उपन्यास इसके प्रमाण हैं। इन ग्रन्थों में आज के युग के अनुकूल चरित्रों को ढाला गया है। इस काल के लेखन की यह विशेषता भी है कि किसान, मजदूर आदि उपेक्षित लोगों के जीवन पर भी कलम चलाई गई है। *गोदान*, *मृगनयनी*, *मैला आँचल* और *आवाँ* (चित्रा मुद्गल) जैसी कृतियों में भी हमारे कालजयी साहित्य का मूल स्वर विद्यमान है।

दूरदर्शन के चैनल अंग्रेजी, अंग्रेजियत, जुआ और सेक्स का फूहड़ प्रचार कर रहे हैं। धारावाहिकों में करोड़पति परिवारों के विकृत जीवन का चित्रण होता है, जिसमें कुचक्र-षड्यंत्रों और घटिया धर्म भावना के मध्य कोई सुलक्षणी बहू अवश्य होती है जो सीता के समान आचरण करती हुई अपने त्याग और स्नेह से परिवार को जोड़े रहती है। रामायण और महाभारत पर आधारित धारावाहिक पूरे देश के जन मानस पर छा गए थे।

वैश्वीकरण और कम्प्यूटर के युग में लोग अंग्रेजी माध्यम से तकनीकी ज्ञान अर्जित कर अमेरिका, यूरोप और आस्ट्रेलिया की ओर भाग रहे हैं। रातोंरात चाहे जैसे करोड़पति बन जाने की होड़ सी लगी हुई है। सारे जीवन मूल्य ध्वस्त हो गए हैं। राष्ट्र को परिचालित करनेवाला कोई आदर्श नहीं रह गया है। हिन्दी के अध्यापक और पक्षधर भी हिन्दी को लेकर हीन भावना से ग्रस्त हैं। नई पीढ़ी हिन्दी की गिनती तक नहीं जानती। इसका परिचय न लिपि से रह जाएगा, न भाषा से और न भाषा से जुड़ी संस्कृति से। मेरे एक परिचित विदेश में रहे हैं। उनके बच्चे कॉन्वेंट में पढ़ रहे हैं। वे घर में भी अंग्रेजी बोलते हैं। मैंने उनकी पंच वर्षीया कन्या को कहते हुए सुना, “डैड, मिस्टर गनेश हैज फालेन डाउन।” आज से लगभग 30-35 वर्ष पूर्व मैंने कामरेड डांगे का वक्तव्य पढ़ा था मेरी बच्ची पुस्तक से पढ़ रही थी, ‘रैम टोल्ड साइटा।’ मैंने बच्ची को कॉन्वेंट से निकालकर जनसंधियों द्वारा परिचालित अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में भर्ती करा दिया था। जनसंघ से मेरा वैचारिक मतभेद है, किन्तु यहाँ बच्ची राम को रैम और सीता को साइटा तो नहीं कहेगी।

संस्कृति की धारा को गंगोत्री से गंगासागर की ओर ही बहना है, कोई भी इसके प्रवाह को पलट नहीं सकता। हाँ, इसमें अपसंस्कृति या भोगपरायण स्वार्थ के जो गन्दे परनाले जुड़ते जा रहे हैं उनका परिष्कार परिमार्जन तो किया जा सकता है। ऐसा न किया गया तो हमारा देश साधन-सम्पन्न अमेरिका भले बन जाए वह श्रेष्ठ सांस्कृतिक परम्परा वाला भारत नहीं रह जाएगा। वह भीतर से खोखला होगा। अंग्रेजी हमें देश की माटी से नहीं जोड़ सकती। वह नई पीढ़ी को घर-परिवार-राष्ट्र से काटकर भोग-परायण और संवेदनहीन रोबोट बनाकर रख देगी।

सन्दर्भ

1. वाल्मीकि-रामायण, 3.61.13
2. वाल्मीकि-रामायण, 3.58.6
3. वाल्मीकि-रामायण, 3.58.4
4. न रामः परदारान् स चक्षुभ्यमिपि पश्यति। 2.72.48
5. वाल्मीकि-रामायण, 2.1.15
6. रामकथा: नये सन्दर्भ, डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, पृष्ठ 87

7. सुनि सेवक दुख दीनदयाला।
फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला॥ 4-6
8. निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह। 3-9
9. वचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन। 2-136
10. सूरसागर, द्वन्द 682, 84
11. सूरसागर, 792-93
12. बिहारी रत्नाकार, 269
13. मतिराम, रसराज, 378

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

- | | | |
|------------------|---|---|
| 1. प्रकाशन स्थान | : | दिल्ली |
| 2. प्रकाशन अवधि | : | त्रैमासिक |
| 3. स्वामी | : | आस्था भारती, नई दिल्ली |
| 4. मुद्रक | : | डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
हाँ, भारतीय
पता
26/501, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| 5. प्रकाशक | : | डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
हाँ, भारतीय
पता
26/501, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| 6. सम्पादक | : | डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
हाँ, भारतीय
पता
26/501, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |

मैं डॉ. बी. बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. बी. बी. कुमार
प्रकाशक

रिक्त

प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास

रामचन्द्र शुक्ल*

अत्यन्त प्राचीन काल में पारस देश आर्यों की एक शाखा का एक वासस्थान था जिसका भारतीय आर्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। अत्यन्त प्राचीन वैदिक युग में तो पारस से लेकर गंगा सरयू के किनारे तक की सारी भूमि आर्य भूमि थी जो अनेक प्रदेशों में विभक्त थी। इन प्रदेशों में भी कुछ के साथ आर्य शब्द लगा था। जिस प्रकार यहाँ आर्यावर्त एक प्रदेश था उसी प्रकार प्राचीन पारस में भी आधुनिक अफगानिस्तान से लगा हुआ पूर्वी प्रदेश 'अरियान' वा 'एर्यान' (यूनानी एरियाना) कहलाता था जिससे ईरान शब्द बना। ईरान शब्द आर्यावास के अर्थ में सारे देश के लिए प्रयुक्त होता था। ससानवंशी सम्राटों ने भी अपने को ईरान के शाहशाह कहा है। पदाधिकारियों के नामों के साथ भी 'ईरान' शब्द मिलता है। जैसे 'ईरान स्पाहपत' (ईरान के सिपाही या सेनापति), 'ईरान अंबारकपत' (ईरान के भंडारी) इत्यादि। प्राचीन पारसी अपने नामों के साथ 'आर्य' शब्द बड़े गौरव के साथ लगाते थे। प्राचीन सम्राट दारयवहु (दारा) ने अपने को अरियपुत्र लिखा है। सरदारों के नामों में आर्य शब्द मिलता है, जैसे, अरियराम, अरियोवर्जनिस् इत्यादि।

प्राचीन पारस जिन कई प्रदेशों में बँटा था, उसमें पारस की खाड़ी के पूर्वी तट पर पड़ने वाला पारस या पारस्य प्रदेश भी था जिसके नाम पर आगे चलकर सारे देश का नाम पड़ा। इसकी प्राचीन राजधानी पारस्यपुर (यूनानी-पर्सिपोलिस) थी जहाँ पर आगे चलकर 'इस्तख' बसाया गया। वैदिक काल में 'पारस' नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था। यह नाम तखामनीय वंश के सम्राटों के समय से, जो पारस्य प्रदेश के थेसारे देश के लिए व्यवहृत होने लगा। यही कारण है जिससे वेद और रामायण में इस शब्द का पता नहीं लगता। पर महाभारत, रघुवंश, कथासरित्सागर आदि में पारस्य और पारसीकों का उल्लेख बराबर मिलता है।

अत्यन्त प्राचीन युग के पारसियों और वैदिक आर्यों में उपासना, कर्मकाण्ड में कोई भेद नहीं था। वे अग्नि, सूर्य, वायु आदि की उपासना और अग्निहोत्र करते थे।

* 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा 'चिन्तामणि' के लेखक, शुक्लजी हिन्दी आलोचना की धूरी रहे हैं।

मिथ्र (मित्र = सूर्य), वयु (वायु), होम (सोम), अरमइति (अमति), अहमन् (अर्यमन), नइर्य-संह (नराशंस) आदि उनके भी देवता थे। वे भी बड़े-बड़े यज्ञ (यज्ञ) करते, सोम पान करते और अथर्वन् (अथर्वन्) नामक याजक काठ-से-काठ रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते थे। उनकी भाषा भी उसी एक मूल आर्यभाषा से उत्पन्न थी जिससे वैदिक और लौकिक संस्कृत निकली हैं। प्राचीन पारसी और संस्कृत में कोई विशेष भेद नहीं जान पड़ता। अवेस्ता में भारतीय प्रदेशों और नदियों के नाम भी हैं। जैसे हफ्तहिन्दु (सप्तसिन्धु), हरव्वेती (सरस्वती), हरयू (सरयू), पंजाब इत्यादि।

वेदों से पता चलता है कि कुछ देवताओं को असुरों की संज्ञा भी दी जाती थी। वरुण के लिए इस संज्ञा का प्रयोग कई बार हुआ है। सायणाचार्य ने भाष्य में 'असुर' शब्द का अर्थ किया है "असुरः सर्वेषां प्राणदः" इन्द्र के लिए भी इस संज्ञा का प्रयोग दो एक जगह मिलता है। पर यह भी लिखा है कि यह पद प्रदान किया हुआ है। इससे जान पड़ता है कि यह एक विशिष्ट संज्ञा हो गई थी। वेदों को देखने में उसमें क्रमशः वरुण पीछे पड़ते गए हैं और इन्द्र को प्रधानता प्राप्त हो गई है। साथ-ही-साथ असुर शब्द भी कम होता गया है। पीछे तो असुर शब्द राक्षस, दैत्य के अर्थ में ही मिलता है। इससे जान पड़ता है कि देवोपासक और असुरोपासक ये दो पक्ष आर्यों के बीच हो गए थे।

पारस की ओर जरथुस्त्र (आधु. फा. जरतुश्त) नामक एक ऋषि या ऋत्विक् (जोता, सं. होता) हुए जो असुरोपासक के पक्ष में थे। इन्होंने अपनी शाखा ही अलग कर ली और "जिंदअवेस्ता" के नाम से उसे चलाया, यही जिंद अवेस्ता पारसियों का धर्म ग्रन्थ हुआ। इसमें 'देव' और शब्द दैत्य के अर्थ में आया है। इन्द्र या वृत्रहन (जिंद वरेथघ्न) दैत्यों का राजा कहा गया है। शओर्व (शर्व) नाहंड्य (नासत्य) भी दैत्य कहे गए हैं। अंध्र (अगिरस) नामक अग्नियाजकों की प्रशंसा की गई है और सोमपान की निन्दा। उपास्य अहुरमज्द (सर्वज्ञ असुर) है जो धर्म और सत्य स्वरूप है। अहमन (अर्यमन) अधर्म और पाप का अधिष्ठाता है। इस प्रकार जरथुस्त्र ने धर्म और अधर्म दो दृढ़ शक्तियों की सूक्ष्म कल्पना की और शुद्धाचार का उपदेश दिया। जरथुस्त्र के प्रभाव से पारस में कुछ काल तक के लिये एक अहुरमज्द की उपासना स्थापित हुई और बहुत से देवताओं की उपासना और कर्मकाण्ड कम हुआ। पर जनता का संतोष इस सूक्ष्म विचारवाले धर्म से पूरा-पूरा नहीं हुआ। ससानों के समय में जब मगयाजकों और पुरोहितों का प्रभाव बढ़ा तब बहुत से स्थूल देवताओं की उपासना ज्यों की त्यों जारी हो गई और कर्मकाण्ड की जटिलता फिर वही हो गई। ये पिछली पद्धतियाँ भी 'जिंदअवेस्ता' में ही मिल गईं।

जिंद अवेस्ता में भी वेद के समान गाथा (गाथ) और मंत्र (मंथ्र) हैं। इसके कई विभाग हैं। जिसमें गाथ सबसे प्राचीन और जरथुस्त्र के मुँह से निकला हुआ माना जाता है। एक भाग का नाम 'यश्न' है जो वैदिक 'यज्ञ' शब्द का रूपान्तर मात्र है।

विस्पर्द, यस्त (वैदिक-इष्टि) वंदिदाद् आदि इसके और विभाग हैं। वंदिदाद् में जरथुस्त्र और अहुरमज्द का धर्म सम्बन्ध में संवाद है। 'अवेस्ता' की भाषा, विशेषतः गाथा की, पढ़ने में एक प्रकार की अपभ्रंश वैदिक संस्कृत सी ही प्रतीत होती है। कुछ मन्त्र तो वेद मन्त्रों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। डॉक्टर हॉग ने यह समानता उदाहरणों से बताई है और डॉक्टर मिल्स ने कई गाथाओं का वैदिक संस्कृत में ज्यों का त्यों रूपान्तर किया है। जरथुस्त्र ऋषि कब हुए थे इसका निश्चय नहीं हो सका है। पर इसमें संदेह नहीं कि वे अत्यन्त प्राचीनकाल में हुए थे। ससानों के समय में पहलवी भाषा में जो 'अवेस्ता' पर भाष्य स्वरूप अनेक ग्रन्थ बने उनमें से एक में व्यास हिन्दी का पारस में जाना लिखा है। संभव है वेदव्यास और जरथुस्त्र समकालीन हों।

इतिहास

अरबों (मुसलमानों) के हाथ में ईरान का राज्य आने के पहले पारसियों के इतिहास के अनुसार इतने राजवंशों ने क्रम से ईरान पर राज्य किया। महाबद वंश, 2. पेशदादी वंश, 3. कवयानी वंश, 4. प्रथम मोदी वंश, 5. असुर (असीरियन) वंश, 6. द्वितीय मोदी वंश, 7. हखामनि वंश, 8. पार्थियन या अस्कानी वंश और 9. ससान वंश। महाबद और गोओर्मद के वंश का वर्णन पौराणिक है। वे देवों से लड़ा करते थे। गोओर्मद के पौत्र हुसंग ने खेती, सिंचाई, शस्त्ररचना आदि चलाई और पेशदाद (नियामक) की उपाधि पाई। इसी से वंश का नाम पड़ा। इसके पुत्र तेहेमुर ने कई नगर बसाए। सभ्यता फैलाई और देवबंद (देवघ्न) की उपाधि पाई। इसी वंश में जमशेद हुआ जिसके सुराज और न्याय की बहुत प्रसिद्धि है। संवत्सर को इसने ठीक किया और वसंत विषुवत पर नववर्ष का उत्सव चलाया जो जमशेदी नौरोज के नाम से पारसियों में प्रचलित है। पर्सेपोलिस विस्तास्प के पुत्र दारा प्रथम ने बसाया, किन्तु पहले उसे जमशेद का बसाया मानते थे। इसका पुत्र फरेदू बड़ा वीर था जिसने कावः नामी योद्धा की सहायता से राज्यापहारी जोहक को भगाया। कवयानी वंश में जाल, रुस्तम आदि वीर हुए जो तुरानियों से लड़कर फिरदौसी के शाहनामे में अपना यश अमर कर गए हैं। इसी वंश में 1300 ई.पू. के लगभग गुश्तास्प हुआ जिसके समय में जरथुस्त्र का उदय हुआ।

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन पारस कई प्रदेशों में विभक्त था। कास्पियन समुद्र के दक्षिण पश्चिम का प्रदेश मिडिया कहलाता था जो एतरेय ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रन्थ का उत्तर मद्र हो सकता है। जरथुस्त्र ने यहाँ अपनी शाखा का उपदेश किया। पारस के सबसे प्राचीन राज्य की स्थापना का पता इसी प्रदेश से चलता है। पहले यह प्रदेश अनार्य असुर जाति के अधिकार में था जिनका देश (वर्तमान असीरिया) यहाँ से पश्चिम में था। यह जाति आर्यों से सर्वथा भिन्न सेम की संतान

(□□□□□□ सेमेटिक) थी जिसके अन्तर्गत यहूदी और अरब वाले हैं। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार मिडिया के आर्यों ने ईसा से हजार वर्ष पहले अपने देश से असुरों को निकाल दिया और बहुत दिनों तक बिना राजा के रहे। अन्त में देवक ने बाबुल, जो असुर देश के दक्षिण पड़ता था को जीत कर एक नया राज्य स्थापित किया। पहला राजा यही देवक (यूनानी Deiokes देइओकेस) हुआ। राजधानी थी हगमतान (यूनानी Ekbatana एकबटना आधुनिक हमदान)। आजकल के इराक और खुर्दिस्तान तक बहुत दिनों तक उनके राज्य का विस्तार रहा और असुरों के आक्रमण बराबर होते रहे। दूसरे बादशाह फ्रावर्लिश (यूनानी Phraortes फ्रेओर्टिस, ने पारस्य प्रदेश को भी राज्य में मिलाया। वह असुरों की राजधानी निनवह की चढ़ाई में मारा गया। उसके उत्तराधिकारी उवक्षत्र (यूनानी Cyaxares सियगजरिस) ने बहुत कुछ राज्य बढ़ाया। ईसा से 607 वर्ष पहले उसने असुर राजधानी निनवह का विध्वंस किया। इस चढ़ाई में बाबुल वालों ने मद्रों का साथ दिया। बाबुल के खाल्दीय (चैल्डियन) बादशाह ने अपने पुत्र नबुकदनजर (Nebuchad-nezzar), का विवाह माद के बादशाह की लड़की अमिति (यूनानी Amyite) से किया। उवक्षत्र ने यूनानी लिडिया राज्य पर चढ़ाई की जो एशिया कोचक में भूमध्य सागर के तट पर पड़ता था। उसी समय एक भारी ग्रहण लगा जिससे राज्य का अशुभ समक्ष लिडिया वालों ने चटपट संधि कर ली। गणना के अनुसार यह ग्रहण 28 मई 585 ईसवी पूर्व में पड़ा था। उवक्षत्र के उपरान्त उसका पुत्र इष्टुवेगु (यूनानी Astyages आस्टियाजिस) राजा हुआ जिसके हाथ से राज्य हखामनि (यूनानी Achamene अकामेनि) वंश में गया।

हखामनि वंश

यह वंश पारस्य प्रदेश का था। इसका मूल पुरुष हखामनि कहा जाता है। हखामनि का पुत्र चयस्पि (यूनानी Teispes टियस्पिस ईसा से 730 वर्ष पहले), चयस्पि का पुत्र कंबुजिय (यूनानी Cambyses) उसके वंश में कंबुजिय का पुत्र महाप्रतापी कुरु (या कुरु; कर्तृकारक रूप 'कुरुश' यूनानी Cyrus साइरस) हुआ जिसने ईसा से 550 वर्ष पहले मद्रराज इष्टुवेगु से साम्राज्य लिया। हखामनि वंशवाले पहले पारस्य प्रदेश के अन्तर्गत अंशन नामक स्थान के राजा थे। बाबुल के खण्डहरों में जो कुरु का लेख मिला है उसमें उसने अपने को 'अंशन का राजा' कहा है, समग्र पारस देश का नहीं। इष्टुवेगु को जीतने के उपरान्त वह बड़े राज्य का अधिकारी हुआ इसका समर्थन एक और प्राचीन लेख से इस प्रकार होता है। "अंशन के राजा कुरु के विरुद्ध गया...इष्टुवेगु...उसकी फौज बागी हुई उन्होंने उसका हाथ पकड़ा और कुरु को दे दिया।" 550 ई. पूर्व कुरु ने हगमतान नगर पर अधिकार किया और यों वह एक विशाल राज्य का अधिकारी हुआ। यह बड़ा प्रतापी राजा हुआ। लिडिया पर

अधिकार करके यहाँ उसने यूनानी राजा फ्रीसस को जीता। जलाने चला था पर कुछ सोचकर रुक गया। इसके सेनापति हरपगस (यूनानी हरपेगस) ने कई यूनानी नगरों को लिया। बाबुल पर चढ़ाई करते ही उसके बादशाह नवोनिद ने अधीनता स्वीकार की। दारयवहु प्रथम (दारा) के शिलालेख से पता चलता है कि कुरु का साम्राज्य खारजम (खीवा), सगदान (समरकंद, बुखारा), बाह्लीक (पूरा. फा. वक्तर) तथा आजकल के अफगानिस्तान के एक बड़े भाग तक था। हिन्दुस्तान के गांधार प्रदेश तक भी उसका अधिकार पहुँचा था जैसा कि सिकन्दर के कुछ यूनानी साथियों ने लिखा है। यह संदिग्ध है। वंक्षुनद (ऑक्सस) के किनारे बर्बर जातियों के हाथ से ईसा से 529 वर्ष पूर्व कुरु मारा गया और इसकी हड्डियाँ वसर्गद नगर में बड़ी धूम के साथ गाड़ी गई। अब तक मुर्गाब के मैदान में उसके विशाल समाधिस्थल का खण्डहर पड़ा है जिसके किसी खम्भे पर "अहम कुरु हखामनि" (मैं कुरु हखामनि हूँ) अब तक खुदा दिखाई देता है।

कुरु के दो पुत्र थे बरदिय (यूनानी Smirdis स्मर्डिस) और कंबुजिय। बरदिया मारा गया, कंबुजिय सिंहासन पर बैठा। इसने मिस्र देश को जीता और मन्दिरों में जाकर वहाँ के देवताओं का अपमान किया। यह क्रूर और अन्यायी था। गोमाता नामक एक मग याजक (ब्राह्मण) ने अपने को बरदिय प्रसिद्ध कर सिंहासन लेना चाहा। कंबुजिया उसके पीछे शाम देश पर चढ़ गया पर मार्ग में उसने आत्मघात कर लिया। गोमाता कुछ दिनों तक राज्य भोगता रहा पर पीछे सात सरदारों ने, जिनमें राजवंशीय भी थे, उसे उतार कर राजवंश की दूसरी शाखा से विस्तास्य के पुत्र दायववहु (कर्तृकारक का रूप-दारयवहु, दारा प्रथम) को लेकर ईसा से 521 वर्ष पहले पारस के सिंहासन पर बैठाया। वह दारयवहु (प्रथम) भी बड़ा प्रतापी हुआ। इसके कइ शिलालेख कई स्थानों में मिले हैं। जिससे इसके शासन काल का बहुत कुछ वृत्तान्त मालूम होता है। उस समय प्रदेश के शासक 'चत्रपावन' कहलाते थे। दारयवहु का विहिस्तून (वैसितून) का शिलालेख सबसे प्रसिद्ध है। जिसकी कुछ पंक्तियाँ उस समय की पारसी भाषा का नमूना दिखाने के लिए नीचे दी जाती है।

अहम दारयवहु क्षायथिक वजर्क क्षायथिक क्षायथियानाम् क्षायथिय द्दह्योनाम् विस्पणनानाम् क्षायथिय अह्याया वजर्काया पुरिआपिय विस्तास्पह्या पुत्र हखामनिशिय पार्स पार्सव्या पुत्र अरिय अरिय पुत्र...॥

अर्थात् मैं दारयवहु राजा, बड़ा राजा, राजाओं का राजा, सारे आबाद देशों का राजा, इस बड़ी पृथ्वी का रक्षक, विस्तास्य हखामनि का पुत्र पारसी, पारसी का पुत्र, आर्य, आर्य का पुत्र...॥

इस विहिस्तून वाले शिलालेख में हिन्दुस्तान का नाम नहीं आया है। पर पर्सपोलिस के लेख में है। उससे जान पड़ता कि थोड़ा-सा सिन्धु के आसपास का प्रदेश ही उसके हाथों में आया था। इस बात का समर्थन इतिहास के आदि यूनानी

आचार्य हेरोडोटस के इस लेख में भी होता है कि उसने सिन्धु नदी की छानबीन के लिए अपने नौबलाधिकृत को पक्त (पख्तु पठान) लोगों के प्रदेश से होकर भेजा था। दारयवहु ने यूनान (ग्रीस) पर चढ़ाई की थी और वह आजकल के रूस से होता हुआ बहुत दूर निकल गया था। मराथन की लड़ाई में एथेंस (यूनान का नगर) वालों ने मर्हीनिम नामक सेनापति के अधीन पारसी सेना को हराया था। ईसा से 485 वर्ष पूर्व दारयवहु (प्रथम) की मृत्यु हुई।

दारयवहु का पुत्र क्षयर्श (यूना. जरिक्सस) सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा शक्तिशाली हुआ। इसने मिस्र देश को सर्वतोभावे से अधीन किया और बड़ी भारी सेना लेकर ईसा से 480 वर्ष पहले यूनान पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई से यूनानियों ने अपनी रक्षा की, इसका उन्हें बहुत गर्व था और इसके सम्बन्ध में देशभक्ति और वीरता की कथाएँ उनके यहाँ प्रसिद्ध हुईं। क्षयर्श को लौटना पड़ा। तूरान की ओर भी उसने समरकंद, बुखारा आदि प्रदेश जीते। वहाँ किसी तुरुष्क बर्बर जाति के हाथ से उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र अर्तक्षत्रश (यूनानी अर्तजरिक्सस) 464 ई. पूर्व में बादशाह हुआ। वह “आजानुवाहु” कहलाता था। ईसा से 424 वर्ष पहले से उसका परलोकवास हुआ और उसके स्थान पर दारयवहु द्वितीय गद्दी पर बैठा। स्पार्टावालों (यूनानियों) के साथ उसका मित्रभाव रहा। उसका उत्तराधिकारी हुआ अर्तजरिक्सस द्वितीय, जिसने अपनी कन्या से विवाह किया। प्राचीन पारसीकों में कन्या और बहिन से विवाह करने की प्रथा थी। उससे स्पार्टावालों से युद्ध हुआ। द्वितीय अर्तजरिक्सस की मृत्यु ईसा से 358 वर्ष पूर्व हुई। अर्तजरिक्सस द्वितीय जो उसका उत्तराधिकारी हुआ, बहुत योग्य और शक्तिवान था।

उसके उपरान्त तृतीय दारयवहु (दारा) पारस के साम्राज्य का अधीश्वर हुआ। इसी के समय में यूनान के प्रसिद्ध दिग्विजयी सिकन्दर की चढ़ाई हुई। 1 अक्टूबर 331 ई. पूर्व गौगभूला (अर्वेला) में दारयवहु की हार हुई और विशाल पारस्य साम्राज्य सिकन्दर के हाथ में आया। दारयवहु (दारा) माद (उत्तरमद्र) देश की ओर भागा। पारस देश में वक्तर (बैक्ट्रिया, वाह्लीक, आधुनिक बलख) के सामन्त विशस् ने उसका वध किया। यूनानियों ने पारस्यपुर आदि नगरों को लूटा और राज्य प्रासाद भस्म कर दिए।

यवन (यूनानी) साम्राज्य

सिल्यूकस वंश

सिकन्दर ने बाबुल को अपनी राजधानी बनाया और वह पंजाब से लौटने पर वहीं जाकर ईसा 326 वर्ष पहले परलोक सिधारा। सिकन्दर की अकाल मृत्यु से उसका अधिकृत साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। प्रदेशों के शासक अलग-अलग

मालिक बन बैठे। एक ओर सिकन्दर के पिता फिलिप का एक जारज पुत्र फिलिप के नाम से 5 या 6 वर्ष तक बादशाह बना रहा। दूसरी ओर सिकन्दर का एक पुत्र (जो वक्तर की राजकुमारी रुकसाना से उत्पन्न था) बादशाह कहलाता रहा। पर ये केवल नाम के बादशाह थे। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के शासक इन यूनानी सरदारों में अधिकार के लिए 42 वर्ष तक मार-काट होती रही। अंत में बाबुल के क्षत्रप (पारस साम्राज्य के प्रदेश शासक प्राचीन काल से क्षत्रप ही कहलाते आते थे) सिल्यूकस की विजय हुई और उसकी अधीनता शेष प्रदेशों ने स्वीकार की। अपने प्रतिद्वन्द्वियों से छुट्टी पाकर सिल्यूकस ने वक्तर (वाह्लीक) को अधीन किया और पंजाब को लेने का भी हौसला किया जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवनों (यूनानियों) से छीन लिया था। पर चन्द्रगुप्त के हाथ से उसने गहरी हार खाई और उसे वाह्लीक, कांबोज, शकस्थान (सीस्तान) आदि देश अर्थात् आजकल का सारा अफगानिस्तान और बलुचिस्तान चन्द्रगुप्त के हवाले करना पड़ा। चन्द्रगुप्त को उसने अपनी कन्या भी ब्याह दी। इस प्रकार मौर्यवंश और सिल्यूकसवंश में मैत्री स्थापित हुई जो पीढ़ियों तक रही। 312 ई. पूर्व से लेकर 280 ई. पू. तक सिल्यूकस ने राज्य किया। सिल्यूकस ने दजला (हार्डग्रीस) नदी के किनारे सिलूसिया नामक नगर बसाया और पहले उसी को अपनी राजधानी बनाया पर पीछे राज्य के पश्चिम भाग पर अंकुश रखने के विचार से उसने शाम देश के अंटिओक नगर में अपनी स्थिति जमाई और पारस आदि पूर्वी प्रदेशों को अपने बेटे अंटिओकस के सुपुर्द किया। अंटिओकस ने पारस में यूनानी सभ्यता और संस्कार फैलाने में बड़ा यत्न किया। राजकाज से सम्बन्ध रखनेवाले यूनानी भाषा बढ़ते थे। सिक्कों आदि पर बहुत दिनों तक यूनानी अक्षरों का ही व्यवहार रहा। अंटिओकस की राजधानी सिलूसिया रही और उसने ई. पूर्व. 280 से लेकर ई. पू. 261 तक राज्य किया।

इसके उपरान्त अंटिओकस द्वितीय ने ई.पू. 261 से लेकर 246 ई. पू. तक राज्य किया। यह विषयी और निर्बल था। अशोक के शिलालेख में जिस “अंतिओक नाम यौनराज” का जिक्र है वह यही है। जैसा पहले कहा जा चुका है मार्य वंश और यवन सिल्यूकस वंश के बीच बहुत दिनों तक मित्रता का सम्बन्ध रहा। इस निर्बल बादशाह के समय में कई देश स्वाधीन हो गए। वाह्लीक देश में डायडोटस नाम का यूनानी सरदार राजा बन बैठा। एक ओर से पारसों का जोर बढ़ा और पारस का पूर्वी भाग सिल्यूकस वंश के हाथ से निकल गया।

पारद साम्राज्य

आर्य-शक वंश

कैस्पियन सागर के दक्षिण के ऊँचे पहाड़ों को पार करके पारस का जो प्रदेश पड़ता था उसे पारद (यूनानी पारथिया) कहते थे। जब पारदों का प्रताप चमका तब यह देश दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। महाभारत, मनुस्मृति, वृहत्संहिता आदि में पारद देश और पारद जाति का स्पष्ट उल्लेख है।¹ यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि पारस पर बहुत दिनों तक उत्तर पूर्व से तूरानी या शक जातियों के आक्रमण होते आते थे। ईरान और तूरान के विरोध की कथा इधर की फारसी पुस्तक में बहुत मिलती है। जिसमें अवसरियाब की कथा सबसे प्रसिद्ध है। सारांश यह कि कुछ शक आकर पारस के पूर्वोत्तर प्रान्त में बहुत दिनों से बसे थे। इससे उस प्रान्त को भी, जो मूल शकस्थान वा सगदान (आधुनिक समरकंद, बुखारा) से लगा ही हुआ था, शक देश कहते थे। पर वहाँ के आर्य निवासी अपने को असली शकों से भिन्न करने के लिए अपने को आर्यशक कहते थे। उसी देश के पहाड़ों में वर्ण नाम की एक पहाड़ी जाति निवास करती थी जिसका उल्लेख विष्णुपुराण में है। यवनराज अंटीओकस (द्वितीय) के समय में इस जाति के दो भाइयों ने पारद प्रदेश में पहुँच कर विदेशीय यूनानियों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया और वहाँ से यूनानियों को निकाल दिया।

ईसा से 250 वर्ष पूर्व इन दो भाइयों में से एक अरसकेश (आर्य-शकेश) के नाम से धूमधाम से गद्दी पर बैठा और पारद का प्रथम राजा कहलाया। सिंहासन पर बैठते ही इसने बड़े समारोह से अग्नि स्थापना की और विदेशीय यवन (यूनानी) संस्कारों को दूर कर देशी रीति नीति स्थापित करने का उद्योग किया। उसके मरने पर उसके उत्तराधिकारी तिरिदात्त ने बरकान (हर्केनिया) का प्रदेश जीतकर मिलाया, इधर अंटीओकस द्वितीय का पुत्र सिल्यूकस द्वितीय मिस्र के यूनानी बादशाह से लड़ने में लगा था जिसने उसका बहुत-सा प्रदेश छीन लिया। मिस्र से संधि कर उसने तिरिदात्त पर चढ़ाई की पर हार गया। उसका पुत्र सिल्यूकस (तृतीय) सोटर तीन ही वर्ष राज्य करके ईस्वी सन् से 223 वर्ष पूर्व मर गया। उसके उपरान्त अंटीओकस तृतीय राजा

1. पौंड्रकाश्चौद्रविडा: काम्बोजा यवना: शका:।

पारदा: पहलवाश्चीना: किराता: दरदा: खशा: ॥ मनु. 10/44

इसी प्रकार वृहत्संहिता में पश्चिम में बसने वाली जातियों में 'पारत' और उनके देश का उल्लेख हैपंचनद रमठ-पारत तारक्षितिजृंग वैश्वकनकशका:।

पुराने शिलालेखों में 'पार्थव' रूप मिलता है जिससे यूनानी पार्थिया शब्द बना है। यूरोपीय विद्वानों ने 'पहव' शब्द को इसी पार्थव का अपभ्रंश या रूपान्तर मानकर पहव और 'पारद' को एक ही ठहराया है। पर संस्कृत साहित्य में ये दोनों जातियाँ भिन्न लिखी गई हैं। मनुस्मृति के समान महाभारत और वृहत्संहिता में 'पहव' 'पारद' से अलग आया है। अतः 'पारद' का 'पहव' से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। पारस में पहव शब्द ससानवंशी राजाओं के समय से ही भाषा और लिपि के अर्थ में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में पारसियों के लिए भारतीय ग्रन्थों में हुआ है। किसी समय में पारस के सरदार पहलवान कहलाते थे। संभव है यह शब्द पहव शब्द से बना हो।

हुआ जिसने सिल्यूकस वंश का गौरव फिर से स्थापित कर दिया। मद्र (उत्तर मद्र), पारस प्रान्त आर्मेनिया आदि प्रदेश को ठीक कर एक लाख पैदल और बीस हजार सवार लेकर उसने तिरिदात्त के पुत्र अरसकेश (द्वितीय) पर चढ़ाई की, उसको हराया पर उसके राज्य पर अधिकार नहीं किया।

पहले कहा जा चुका है कि अंटीओकस द्वितीय के समय में वाह्लीक प्रदेश का शासक डायडोटस स्वतन्त्र हो गया था। कुछ दिनों में उसके उत्तराधिकारी को हटाकर यूथिडिमस (Euthydemus) वाह्लीक (वक्तर) का राजा बन बैठा। ईसवी सन् 208 वर्ष पहले अंटीओकस तृतीय ने उस पर चढ़ाई की पर जब उसने शकों का टिड्डी दल छोड़ने की धमकी दी और समझाया कि उनके प्रदेश से यूनानी राज्य और सभ्यता का चिह्न एशिया से एक बारगी लुप्त हो जाएगा तब अंटीओकस प्रसन्न हो गया और उसने अपनी कन्या का विवाह यूथिडिमस के पुत्र डिमिट्रियस के साथ कर दिया। वाह्लीक से अंटीओकस (तृतीय) कांबोज (काबुल) की ओर गया और वहाँ मौर्य सम्राट सुभगसेन (सोफाइटिस) से पास सिल्यूकस वंश की पुरानी मित्रता सूचित करने के लिए बहुमूल्य उपहार भेजे। मौर्य सम्राट की ओर से 150 हाथी बदले में मिले। इसके पीछे अंटीओकस को रोम वालों से सामना करना पड़ा और हार के बाद बहुत-सा धन देना पड़ा। पराजित होकर वह सूसा नगर में आया और उसने वहाँ के सम्पन्न मन्दिर को लूटा जिससे बड़ी हलचल मची और वह ई. सन् से 187 वर्ष पूर्व मार डाला गया। यूनानी राज्य की नींव फिर हिल गई। प्रदेश स्वतन्त्र होने लगे उधर रोमन (रोमक) साम्राज्य एशिया में अपना राज्य बढ़ाने की ताक में था। इसके पीछे अंटीओकस तृतीय के दो पुत्र राजा हुए। दूसरे पुत्र अंटीओकस (चतुर्थ) ने 175 ई. पूर्व से लेकर 164 ई. पू. तक किसी प्रकार यूनानी राज्य संभाला, उसके बाद अंटीओकस पंचम नाम का एक बालक और फिर डिमिट्रियस प्रथम राजा हुआ जिसने अपनी शक्ति का परिचय दिया। रोमन लोग उसे बराबर तंग करते रहे। पर उसे कई यूनानी शासकों ने मिलकर सन् 150 ई. पूर्व में मार डाला। बड़ी कठिनाइयों के बीच में डिमिट्रियस द्वितीय राजा हुआ और बराबर अपने पड़ोसियों से लड़ता रहा। पाँच वर्ष के भीतर वह शाम देश के एक बड़े भाग से निकाल बाहर हुआ। ऐसे ही समय में पारदों से युद्ध छिड़ा।

इधर पारद राज्य में अरसकेश द्वितीय (ई.पू. 191 से ई.पू. 176) के उपरान्त फ्रावति प्रथम राजा हुआ जिसकी मृत्यु ई. सन् से 171 वर्ष पूर्व हुई। उसकी मृत्यु के उपरान्त परम प्रतापी मिथ्रदात (सं. मिथ्रदाता) राजा हुआ जिसने पारद साम्राज्य की नींव डाली।

पहले राजा जा चुका है कि अंटीओकस तृतीय ने वाह्लीक के नए बने हुए राजा यूथिडिमस के पुत्र डिमिट्रियस को अपनी कन्या ब्याह दी। यूथिडिमस के मरने के पीछे डिमिट्रियस राजा हुआ पर थोड़े ही दिनों में (ई. पू. 181 और 171 के बीच) यूक्रेटाईडीज नामक एक व्यक्ति उसे राज्य से निकाल आप वाह्लीक का राजा बन

बैठा। उसने पंजाब पर चढ़ाई की और सतलज तक बढ़ा। वाहिक से निकाले जाने पर डिमिट्रियस पंजाब की ओर बढ़ा और उसने साकल में अपनी राजधानी स्थिर की। सिन्धु नद के दक्षिण होते हुए उसने पाटल (सिन्धु में) को जीता और क्रमशः सौराष्ट्र देश को अपने अधिकार में किया। उसके उपरान्त कई यवन (यूनानी) राजाओं ने भारत के पश्चिम भाग में राज्य किया। वायुपुराण में लिखा है कि आठ यवन राजाओं ने 82 वर्ष के बीच राज्य किया, सिक्कों में भी कई यूनानी राजाओं के नाम मिलते हैं। इससे इतिहास के सम्बन्ध में पुराणों की उपयोगिता सिद्ध होती है। यदि हम यवनों के राज्य का आरम्भ डिमिट्रियस के आगमन से लेते तो ईसवी सन् से 93 वर्ष पूर्व तक यवन राज्य की स्थिति पाई जाती है। इस प्रकार पारस में यवन साम्राज्य नष्ट हो जाने के 50 से 60 वर्ष बाद तक भारत के एक भाग में यवन (यूनानी) राजा राज्य करते रहे। इन आठ यवन राजाओं में सबसे प्रतापी मिनांडर था। जिसने मथुरा और साकेत और राजपूताने तक अपना राज्य बढ़ाया था। साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (नगरी, मेवाड़ में चित्तौड़ से आठ मील उत्तर को) पर मिनांडर का धावा और घेरा जिस समय हुआ उस समय महाभाष्यकार पंतजलि विद्यमान थे। मथुरा में इनके सिक्के बहुत मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि मिनांडर बौद्ध हो गया था। बौद्ध ग्रन्थ मल्लिंदपद्दहो (मिलिन्दप्रश्न) में नागसेन आचार्य से उसके धर्म विषयक प्रश्नोत्तर लिखे गए हैं। वह जम्बूद्वीप के सब राजाओं में श्रेष्ठ कहा गया है। उसका जन्मस्थान अलसद बताया गया है जो भारतवर्ष में या उससे बाहर सिकन्दर के बसाए हुए कई अलेक्जेंड्रिया में एक के नाम का अपभ्रंश जान पड़ता है। यहाँ पर यह समझ लेना भी आवश्यक है कि ईरान के पूर्वी भाग में बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत दिनों पहले से था। अगथाक्लीज नामक यूनानी राजा के सिक्के में जिसने ईरान के पूर्वी भाग में राज्य किया था, (ईसवी सन् 180 वर्ष पूर्व से 165 वर्ष पूर्व तक) एक बौद्ध स्तूप अंकित हैं। डिमिट्रियस के समय से यूनानियों ने भारतीय रीति-नीति ग्रहण की। उनके सिक्कों पर भी भारतीय चिह्न और अक्षर रहने लगे। काबुल प्रदेश उस समय हिन्दुस्तान में ही समझा जाता था। और वहाँ की भाषा हिन्दुस्तानी ही कही जाती थी। यूक्रेटाइडीज की मृत्यु के उपरान्त वाहिक, कांबोज, शकस्थान (सीस्तान) आदि के यूनानी सरदार राज्य के लिए परस्पर लड़ने लगे। पारदेश्वर मिथ्रदात ने अच्छा अवसर देख वाहिक आदि भारत से लगे हुए प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। कुछ लेखकों ने लिखा है कि उसने पंजाब तक अपना अधिकार बढ़ा लिया था। पूरब से छुट्टी पाकर उसने मद्र पर अधिकार किया और 140 ई.पू. में बाबुल आदि डिमिट्रियस के बचे हुए प्रदेश को भी ले लिया। इस प्रकार सिकन्दर द्वारा स्थापित पारस का यवन साम्राज्य नष्ट हुआ और पारद साम्राज्य की स्थापना हुई। वह जैसा प्रतापी और वीर था वैसा ही नीतिज्ञ और न्यायपरायण भी था। इसके साम्राज्य का विस्तार वाहिक से लेकर पश्चिम में दजला नदी के किनारे तक था।

पारद लोग जरथुस्त्र के पक्के अनुयायी भी थे। जब तिरिदात रोमन सामन्त

नीरो से मिलने गया था तब वह स्थल मार्ग से ही गया था। क्योंकि जहाज से जाने में उसे पवित्र समुद्र में थूकना पड़ता। उसके साथ बहुत से मगयाजक गये थे। पारदों के समय में मगयाजकों का यद्यपि उतना अधिक प्राधान्य नहीं था जितना ससानों के समय में था, पर उनका मान बहुत कम था।

मिथ्रदात के पीछे उसका पुत्र फ्रावत्ति (Phraortes) द्वितीय हुआ। इसके समय में ईसा से 129 वर्ष पूर्व शाम देश के सिल्यूकसवंशी यवन राजा अंटीओकस सप्तम ने एक बार फिर भाग्य की परीक्षा की। वह माद प्रदेश पर चढ़ आया पर पारदों की 12000 सेना के सामने पराजित हुआ। पकड़े जाने के डर से वह एक चट्टान पर से कूदकर मर गया। फ्रावत्ति के समय तूरानी शकों का भारी आक्रमण हुआ। दजला के किनारे तक का देश उन्होंने लूटा और फ्रावत्ति को 128 ई. पू. में मार डाला। फ्रावत्ति का उत्तराधिकारी अर्त्तवान या अर्दवान (प्रथम) शकों को कर देने पर बाध्य हुआ। शकों ने ईरान के एक पूर्वी प्रदेश पर अधिकार करके अपनी बस्ती बसाई और उसका नाम शकस्थान रखा जो आगे चलकर सीस्तान कहलाया। अर्त्तवान के बाद मिथ्रदात द्वितीय, फिर अर्त्तवान द्वितीय, और उसके पीछे फ्रावत्ति तृतीय राजा हुआ। अर्मेनिया देश के झगड़े को लेकर रोमन लोगों के साथ फ्रावत्ति का युद्ध हुआ जिसमें रोमक सेना पराजित हुई। फ्रावत्ति तृतीय की हत्या उसके पुत्र हुरोध (यूनानी Hyrodes या Orodes) ने की। उसके समय में अर्थात् ईसवी सन् से 53 वर्ष पहले रोमन लोगों ने मेसोपोटामिया (फरात और दजला नदी के बीच के प्रदेश) पर चढ़ाई की, पर गहरी हार खाई। इस युद्ध के उपरान्त रोमन लोगों में भीतरी विवाद उपस्थित हुआ जिससे पारद लोग बहुत लाभ उठा सकते थे। पर यह उनसे नहीं बना। पाँपे ने सीजर के विरुद्ध पारदों से सहायता माँगी। पारदों ने बदले में शाम देश माँगा और उसे न पाने पर सहायता अस्वीकार की, पाँपे की रोमन सेना के साथ पारदों का घोर युद्ध हुआ जिसमें पारदों की हार हुई और उनका राजपुत्र पाकौर मारा गया।

हुरोध के पीछे उसका दूसरा लड़का फ्रावत्ति (Phraortes) राजा हुआ जिसके समय में रोमन सेनापति एंटनी ने चढ़ाई की। फ्रावत्ति हार गया और उसकी जगह पर तिरिदात नामक एक व्यक्ति रोमनों की सहायता से ईसा से 27 वर्ष पूर्व पारद साम्राज्य का अधीश्वर बन बैठा। फ्रावत्ति बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता रहा। अंत में उसने शकों को अपने पक्ष में किया और उनका टिड्डी दल लेकर आया जिसे देखते ही तिरिदात भागकर रोमन नगर चला गया। फ्रावत्ति ने कुछ दिन राज्य किया। उसके अनंतर पूर्वी देशों में रोमन का अधिकार बढ़ता गया और पारदों का प्रभाव कम होने लगा। ईसा से 20 वर्ष पूर्व फ्रावत्ति के साथ रोमनों ने संधि की। फ्रावत्ति ने अपने कनिष्ठ पुत्र को छोड़ और सारे परिवार को इसलिये रोम भेज दिया जिससे सिंहासन के लिये विवाद खड़ा न हो।

ईसवी सन् के आरम्भ में पारद देश से लगा हुआ बरकान (हरकेनिया) का

पहाड़ी प्रदेश स्वतन्त्र पाया जाता है। उसके सात स्वतन्त्र राजाओं के सिक्के मिले हैं। जिनमें पहला है अरसकेश दाइक (Arsaces Dicaeus)। इन राजाओं में सबसे शक्तिशाली गंदोफर (यूनानी Gondophores) था जो उन कई प्रदेशों का राजा था जो पहले पारद साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इसके सिक्के हेरात, सीस्तान, कंदहार और पंजाब आदि में पाये गये हैं। पेशावर के पास तख्तेवाही के शिलालेख में भी इसका नाम है। ईसाइयों के अनुसार ईसा मसीह का चेला टामस इसी के राजत्व काल में हिन्दुस्तान पहुँचा था।

इसी समय के लगभग वाह्लीक के तुरुष्क शकों की टोचरी शाखा प्रबल हुई। इसमें हिमकपिश (सिक्कों पर “हिमकपिशो”, यूनानी Oemokad-phiscs) बड़ा वीर राजा हुआ जिसके सिक्के काबुल और पंजाब से लेकर काशी तक मिले हैं। भारतवर्ष में तुरुष्क शक की स्थापना इसी ने की। प्रसिद्ध बौद्ध राजा कनिष्क इसी का वंशज था। फ्रावत्ति चतुर्थ को मारकर उसका कनिष्क पुत्र फ्रावत्ति पंचम के नाम से गद्दी पर बैठा। इसने अर्मेनिया पर चढ़ाई की जो रोमनों के अधिकार में था पर युद्ध में पराजित होकर पकड़ा गया। रोमन सम्राट आगस्टस ने उससे अर्मेनिया पर कभी चढ़ाई न करने की प्रतिज्ञा लेकर उसे छोड़ दिया। उसके लौटने के थोड़े ही दिनों पीछे विद्रोह हुआ जिससे उसे फिर रोम भागना पड़ा। उसके स्थान पर लोगों ने हरौध द्वितीय को बुलाकर सिंहासन पर बिठाया पर अपनी क्रूर प्रकृति के कारण शिकार खेलते समय वह मार डाला गया। कुछ दिनों तक लूटपाट और अराजकता रही। अंत में सरदारों ने फ्रावत्ति चतुर्थ के ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर राज्य पर बिठाया। पर यूरोप में रहने के कारण उसकी चालढाल बदल गई थी। उसे उतार कर अरसकेश वंश का दूर का व्यक्ति अर्त्तवान राजा हुआ। वह बड़ा चतुर और पराक्रमी था। वह अर्मेनिया के लिये रोमनों से बराबर लड़ता और राज्य के विद्रोह का भी दमन करता रहा। दो बार वह सिंहासन से हटाया गया पर उसने उसे फिर प्राप्त किया। रोमन लोगों का वह मान ध्वंस करना चाहता था पर भीतरी झगड़ों से कुछ न कर सका और सन् 40 ई. में इसने शरीर त्याग दिया। उसकी मृत्यु के पीछे कुछ काल वरदान (यूनानी Vordanes) ने राज्य किया, उसके निष्ठुर व्यवहार से असन्तुष्ट प्रजा ने वरदान का पक्ष लिया और वह राजा हुआ। गोतार्ज ने फिर विद्रोह किया। वरदान उसे पराजित करके लौट रहा था कि उसके बीच ही में मारा गया। गोतार्ज फिर राजा हुआ और उसने अत्याचार आरम्भ किया। नगर से फिर एक और राजकुमार मिहिरदात भेजा गया पर बीच ही में पकड़ा गया। गोतार्ज ने उसे मारा नहीं, रोमनों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने के लिये उसके कान काटकर छोड़ दिया। 51 ई. में गोतार्ज की मृत्यु हुई। 54 ई. तक बानू ने राज्य किया। उसके पीछे उसका बड़ा बेटा बलकाश प्रथम (Valogesi) गद्दी पर बैठा। अर्मेनिया के झगड़े को लेकर रोम वालों से उसे फिर युद्ध करना पड़ा। अर्मेनिया बराबर पारस्य साम्राज्य के अधीन रहा और वहाँ के निवासी पारसियों के ही भाई-बंधु

और आर्यधर्म के अनुयायी थे। बलकाश ने अपने भाई तिरिदात को वहाँ का शासक नियुक्त किया। रोमनों ने षट्चक्र रचकर वहाँ की गद्दी पर एक अपना सरदार बैठा दिया। बलकाश ने धूमधाम से चढ़ाई की और अंत में उसे सन्धि करनी पड़ी। जिसके अनुसार यह स्थिर हुआ कि तिरिदात रोम के सम्राट से धन प्राप्त करके तब अर्मेनिया पर राज्य करे। तिरिदात संधि के अनुसार सन् 66 ई. में रोम गया। इसके पीछे अलान नाम की जंगली जाति काकेशस या कोहकाफ के अंचल से टिड्डी दल के समान उमड़ी और अर्मेनिया आदि को लूटती उजाड़ती पारस प्रदेश में जा पहुँची। बलकाश ने रोमनों से सहायता माँगी, पर न मिली। इसी उपद्रव के थोड़े ही दिनों पीछे बलकाश प्रथम की मृत्यु हुई और द्वितीय बलकाश और द्वितीय पाकौर ने कुछ दिन राज्य किया। अंत में सन् 81 ई. में अर्त्तवान या अर्दवान चतुर्थ राजा हुआ। यह भी रोमनों से छेड़छाड़ करता रहा। इसके समय में पारद साम्राज्य का संबंध बहुत दूर तक विस्तृत हुआ। चीन आदि देशों से उसका संबंध स्थापित हुआ। पारद और बरकान के राजा के यहाँ से चीन के सम्राट के पास, चीन सम्राट के यहाँ से पारद सम्राट के पास भेंट की वस्तुएँ आती जाती थीं, अर्त्तवान के पीछे सन् 93 ई. में पाकौर द्वितीय नामक बादशाह के सिक्के मिलते हैं। उसकी मृत्यु के उपरान्त राज्य के तीन उत्तराधिकारी परस्पर युद्ध करते और इधर-उधर राज्य करते रहे उसरो, बलकाश द्वितीय और मिहिरदात षष्ठ। रोमनों ने मौका देख चढ़ाई कर दी और अर्मेनिया पर अधिकार करते हुए वे मेसोपोटामिया में आ पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने शासक नियुक्त किये। तुरन्त बलवा हुआ और रोमन निकाल दिये गये। फिर भी पारद राजवंश आपस में लड़ता रहा और रोमनों ने फिर बाबुल आदि पर अपना अधिकार जमाया। पर ठहरना असम्भव समझ उसरो के पुत्र पर्थमस्पात को पारस का राजा मान कर वे चले गये। पर यह पारद देश में रह न सका और उसरो उसका राज बना रहा। अंत में बलकाश द्वितीय राजा हुआ, जिसने 71 वर्ष राज्य करके 96 वर्ष की अवस्था में नवम्बर 148 ई. में परलोक गमन किया।

उसके पुत्र बलकाश तृतीय ने अर्मेनिया से रोमनों को हटाया। पर अन्त में दोमनों से हारकर उसने 166 ई. में सन्धि की जिसके अनुसार मेसोपोटामिया रोमनों के हाथ में गया। उसकी मृत्यु सन् 191 ई. में हुई। बलकाश चतुर्थ के समय में मेसोपोटामिया रोमनों से फिर ले लिया गया। इसके उपरान्त सीवरस एक बड़ी भारी सेना लेकर पहुँचा और इस्फाहान तक बढ़ गया। पारद सम्राट उसके सामने ठहर न सका। रोमनों ने प्रजा पर घोर अत्याचार किया। पर पारद के सामन्त राजा बरसीन ने रोमनों के खूब छक्के छुड़ाये और उन्हें भागना पड़ा। सन् 209 ई. में बलकाश पंचम राजा हुआ। उसका भाई अर्दवान उसका प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हुआ और अन्त में इस्फाहान आदि उसने ले लिया। बलकाश भी बाबुल में अपनी राजधानी जमाकर राज्य करता रहा। इन दोनों में प्रबल अर्त्तवान ही था जिसने रोमन लोगों को खूब ध्वस्त किया।

रोमन सेनापति मैक्रिनस को इसने दो बार हराया। अंत में सन् 217 ई. में रोमन मेसोपोटामिया से निकाल बाहर किये गये और शाम देश में भागे। रोमन सेनापित मैक्रिनस को पाँच करोड़ दीनार देकर पारदों से अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। इसके उपरान्त पारस्य प्रदेश (यूनानी परसिस) का ससान वंश प्रबल हुआ और पारदों के हाथ से ईरान का साम्राज्य ससानों के हाथ में गया।

ससान साम्राज्य

पारदों के राजत्व काल में पारस्य प्रदेश के राजा कभी पारदों के अधीन हो जाते थे कभी सिल्यूकसवंशी यवनों के। इन राजाओं के नाम या तो हखामनी वंश के राजाओं के नामों से मिलते-जुलते होते थे (जैसे अर्त्तक्षत्र, दारयवहु) अथवा धर्मग्रन्थों में आये हुये होते थे (जैसे नरसंह, यज्दकर्त्त, मिनुचेत्र)। पारद साम्राज्य के पिछले दिनों में पारस्य प्रदेश का शासन बाजरंगी वंश के हाथ में था। उसका अंतिम राजा गोजिह (पुरानी पारसी-गोसित्र) था। पारस्य प्रदेश जरथुस्त्र धर्म का केन्द्र था। अनाहेथ देवी का प्रसिद्ध अग्निमंदिर वहीं इश्तख नगर में था। उसके पुजारी का नाम ससान था जिसका विवाह बाजरंगी वंश की एक राजकुमारी रामविहित से हुआ था। उसके पुत्र पापक (आधुनिक फारसी पोबेक, बोबेक) ने गोजिह को तख्त से उतार दिया और वह आप राजा बना। सन् 212 ई. में पापक का पुत्र अर्दशीर (अर्देशिर बाबेकान) राजा हुआ। इसकी जरथुस्त्र धर्म और उसके याजकों में बड़ी श्रद्धा थी। इसके सिक्कों पर अग्निवेदी का चिह्न और इसके नाम के आगे मज्दयशन (अर्थात् यज्ञपटु) लगा मिलता है। इसी के समय में अर्दाविराफ नामक पारसी याजक ने जरथुस्त्र की वाणी को लेखबद्ध किया। इसने क्रमशः किरमान, सूसियान आदि प्रदेशों को जीता और अंत में वह अंतिम पारदवंशी सम्राट अर्दवान से जा भिड़ा जो 28 अप्रैल 224 ई. में लड़ाई में मारा गया। अर्दशीर ने शाहशाह की उपाधि ग्रहण की। रोमन लोग इस नई शक्ति का उदय देख डरे। इससे उनसे भी उसे लड़ना पड़ा। नाम के लिये तो राजधानी इश्तख (प्राचीन पारस्यपुर) रही पर असली राजधानी पारदों की राजधानी इस्फहान ही थी।

अर्दशीर का पुत्र शापूर (प्रथम) (प्राचीन रूप-शहपुह) 20 मार्च 242 ई. में गद्दी पर बैठा। वह बराबर रोमनों से लड़ता और उन्हें हराता रहा। एक बार रोमन बादशाह बलेरियन आप सेना लेकर चढ़ा, पर बंदी किया गया। वह कारागार में ही मरा। शापूर ने रोमनों के अधिकृत देश एशिया कोचक और अर्मेनिया पर आक्रमण किया, पर कृतकार्य न हुआ। उसके पीछे उसके पुत्र हरमुज्द (प्रथम) और फिर बहराम (प्रथम) ने राज्य किया। सन् 277 से लेकर 294 ई. तक बहराम (द्वितीय) राजा रहा। वह बड़ा धार्मिक था। उसकी धर्मलिपियाँ कई जगह पाई गयी हैं। उसके पीछे बहराम तृतीय

और फिर नरसंह राजा हुआ। इसके समय में रोमनों को सफलता हुई और मेसोपोटामिया और अर्मेनिया प्रदेश सन् 298 ई. में उन्हें मिल गये।

नरसंह के पीछे हरमुज्द द्वितीय और फिर अधरनसंह राजा हुआ, जिसे थोड़े ही दिनों में सरदारों ने गद्दी से उतार दिया और शापूर द्वितीय को बादशाह बनाया। यह बड़ा पराक्रमी और धीर बादशाह था। भूखे जंगली अरब सीमा पार के स्थानों में आकर लूटपाट किया करते थे। इसने कठोर शासन द्वारा उनका दमन किया और उन स्थानों को उनके आक्रमणों से मुक्त कर दिया। कहा जाता है कि खुरासान का नैशापुर (पु. पा. नवशहपुह) शहर इसी शापूर का बसाया हुआ है।

शामई पैगंबरी मतों का स्वाभाविक कट्टरपन प्रकट करने का साहस यहूदियों को नहीं हुआ था। रोमन और पारसी ये दो प्रतापी आर्य जातियाँ उनके सिर पर थीं। पर अब ईसाई धर्म का प्रचार यूरोप में हुआ और रोमन लोग ईसाई होने लगे। रोमन बादशाह कांस्टाइन (जन्म 272, मृत्यु 337 ई.) के समय में ईसाई धर्म रोमनों का राजधर्म हुआ और कांस्टेतिनोप्ल (कुस्तुन्तुनिया या इस्तंबोल) रोमन राजधानी हुआ। एक ईसाई साम्राज्य को इतना निकट पाकर यहूदी, अर्मेनिया और पारस के ईसाई उद्धत हो उठे। वे पारसी मन्दिरों में जाकर देवताओं और पारसी सम्राट की निन्दा करने लगे। रोमन सम्राट जुलियन की हार की झप मिटाने आया तो हारा और बहुत-सा राज्य देकर सन्धि करके लौटा। जब शापूर रोमनों से लड़ रहा था उस समय उसकी कुछ ईसाई प्रजा ने गुप्त रूप से रोमनों की सहायता की थी। शापूर ने उन्हें कड़ा दण्ड दिया। यहाँ पर यह कह देना भी परम आवश्यक है कि पारसी लोग धर्म संबंध में बड़े उदार थे। वे किसी मत के साथ विरोध नहीं करते थे। सन् 379 ई. में शापूर द्वितीय का परलोकवास हुआ।

कुछ दिनों तक उसका बुढ़ा भाई आर्दशीर द्वितीय तख्त पर रहा पर सन् 383 ई. में वह उससे उतार दिया गया और शापूर तृतीय गद्दी पर बैठा। उसने रोमनों से संधि कर ली और कांस्टेतिनोप्ल में राजदूत भेजे। उसके मारे जाने पर बहराम चतुर्थ (किरमान शाह) राजा हुआ जिसने संधि स्थिर रखी। इस संधि के अनुसार रोमनों को अर्मेनिया का अधिक भाग पारस साम्राज्य के अधीन कर देना पड़ा। बहराम को सन् 399 में कुछ बदशाहों ने मार डाला। किरमानशाह के उपरान्त शापूर तृतीय का बेटा यज्दगर्द प्रथम तख्त पर बैठा। यह ईसाइयों पर बड़ी कृपा रखता था, पर उनके मतोन्माद पर उन्हें दण्ड भी देता था। अब्दा नाम के एक मदोन्मत्त पादरी ने एक अग्निमन्दिर में जाकर पारसी धर्म की निन्दा और अपमान किया। उसे समुचित दण्ड मिला। ससानों के समय में मग याजकों की बड़ी चलती थी। ससानवंशी राजा याजकों और पुरोहितों की मुट्ठी में रहते थे। यज्दगर्द उदार और स्वतंत्र प्रकृति का था इससे वे उसे नहीं चाहते थे। कहा जाता है कि सन् 420 ई. में बरकान के पहाड़ी प्रदेश में

वह मार डाला गया। सरदारों ने उसके उत्तराधिकारी को भी मारकर खुसरो नाम के एक संबंधी को सिंहासन पर बैठाया। पर जब मृत राजकुमार का एक भाई बहराम अरबों का दल लेकर पहुँचा तो खुसरो को तख्त छोड़ना पड़ा। बहराम-गोर पारसियों का बहुत प्रिय राजा और अनेक कथाओं का नायक है। उसने उद्धृत ईसाइयों का पूरा शासन किया और उनके उत्तेजक रोमनों पर भारी चढ़ाई की। रोमनों ने हारकर सन् 422 ई. में संधि की। हैतालों या हूणों पर बहराम गोर की चढ़ाई भी बहुत प्रसिद्ध है। हूण उस समय वंशु नद (आक्सस नदी) के किनारे आकर बसे थे¹ और पारस की पूर्वोत्तर सीमा पर लूटपाट किया करते थे। बहराम-गोर ने सन् 325 ई. में उन्हें हराकर वंशु नद के पार भगा दिया और कुछ दिनों के लिये पारस को हूणों के आक्रमण से मुक्त कर दिया। बहराम के इधर फँसने के कारण रोमनों को दम लेने का समय मिला।

सन् 438 या 439 ई. में बहराम-गोर की मृत्यु हुई और उसका बेटा यज्दगर्द द्वितीय तख्त पर बैठा जो बड़ा क्रूर और निष्ठुर था। उसे खुरासान में जाकर हूणों से लड़ना पड़ा। यहूदियों और ईसाइयों के मतोन्माद का उसने कठोरता से दमन किया। अर्मेनिया के लोग ईसाई हो गये थे और अपने देश में पारसी धर्म नहीं देख सकते थे। रोमनों के इशारे से उन्होंने बलवा किया पर वे दबा दिये गये। रोमनों के ऊपर भी यज्दगर्द को चढ़ाई करनी पड़ी थी। उसकी मृत्यु अर्थात् सन् 457 के पीछे उसका छोटा लड़का पीरोज या फिरोज हूणों की सहायता से अपने बड़े भाई को हराकर और मारकर 459 ई. में गद्दी पर बैठा। हूणों के साथ फिरोज का विवाद हुआ और वे पारस पर चढ़ दौड़े। हूण उस समय पारसी सभ्यता ग्रहण कर चुके थे और अपने नाम आदि पारसी ही रखने लगे थे। उनके बादशाह खुशनेवाज के हाथ से फिरोज ने गहरी हार खाई। लड़ाई के पीछे उसका कहीं पता न लगा और उसकी कन्या पकड़कर हूण बादशाह के हरम में दाखिल की गई। हूणों की लूटपाट के कारण कुछ समय तक पूरे देश में अराजकता रही, अंत में सरदारों ने फीरोज के भाई बलाश को गद्दी पर बैठाया। यह बड़ा निर्बल शासक था। ईसाइयों के उपद्रव पर इसने स्वीकार कर लिया कि अर्मेनिया

1. कालिदास के समय में हूण भारतवर्ष के भीत नहीं घुसे थे, वंशु नद के किनारे के प्रदेश में ही बसे थे। जैसा कि रघुवंश के इन श्लोकों से सूचित होता है।

विनीताध्वजमातस्य वंशुतीरविक्षेष्टनैः।

दुधुवुर्वाजिनः स्कंधात्लन कुंकुम केसरान्।।

तत्र हूणावरोधानं भर्तृषु व्यक्तिविक्रमम्।

कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्।।

आजकल की पुस्तकों में 'वंशु' के स्थान पर 'सिन्धु' पाठ मिलता है। और नौ प्राचीन प्रतियों में से छह में वंशु पाठ है। सिन्धु पाठ ठीक मानने से कालिदास का समय गुप्तों से भी पीछे मिहिरगुल और तुरमानशाह का समय हो जाता है। पुराना पाठ 'कपोलपाटना' है। 'पाटला' नहीं, क्योंकि पतिमरण पर हूण स्त्रियों में अपना गाल फाड़ डालने की रीति थी।

में जरतुश्त धर्म नहीं रहेगा। उससे मग पुरोहित और याजक परम असंतुष्ट थे। अंत में वह अन्धा करके सिंहासन से उतार दिया गया और फीरोज का बेटा कबाद (प्रथम) सन् 488 ई. या 489 ई. में तख्त पर बैठा। वह याजकों और पुराहितों के हाथ की कठपुतली नहीं रहना चाहता था। उसके समय में मजदक नामक एक व्यक्ति एक नये मत का प्रचार करने लगा कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक धन या सामान हो उसे उसको उन लोगों को बाँट देना चाहिये जिनके पास कुछ भी नहीं है। कबाद ने इस मत को बहुत पसन्द किया और उसके अनुसार थोड़ी बहुत व्यवस्था भी होने लगी। सरदारों ने मिलकर उसे कैद कर लिया और उसके भाई जामास्प को तख्त पर बैठाया। पर कबाज बंदीगृह से निकलकर हैतालों या हूणों के पास गया और उनकी सहायता से उसने फिर सिंहासन प्राप्त किया। उसने शाम देश में रोमनों पर चढ़ाई की और मेसोपोटामिया का बहुत सा भाग ले लिया। कबाद 82 वर्ष का होकर सन् 531 ई. में मरा।

कबाद का पुत्र परम प्रतापी और न्यायी खुसरो हुआ जो नौशेरवाँ के नाम से प्रसिद्ध है और इसके न्याय की अनेक कथायें फारसी किताबों में प्रसिद्ध हैं। ईसाइयों पर वह कृपा रखता था। जिसका फल यह हुआ कि उन्होंने उसी के एक पुत्र को ईसाई बनाया और रोम से भगा दिया। नौशेरवाँ ने उन ईसाइयों को दण्ड दिया, पर बहुत साधारण। न्यायी के अतिरिक्त नौशेरवाँ बड़ा पराक्रमी और प्रतापी भी था। उसने शाम देश पर रोमनों के विरुद्ध चढ़ाई करके उन्हें खूब ध्वस्त किया। वह बहुतों को बंदी करके ले आया। उसने रोमनों पर भारी कर लगाया जिसे देखकर उन्होंने सन्धि की। अर्मेनिया पर भी चढ़ाई करके नौशेरवाँ ने रोमनों का जोड़ तोड़ा और अपना अधिकार दृढ़ किया। इसके समय में राज्य की सब तरह से वृद्धि हुई। नौशेरवाँ से समय में ही अरब में हजरत मुहम्मद साहब हुए, जिनके मत ने आगे चलकर पारस और तुर्किस्तान से आर्यधर्म और आर्य सभ्यता का लोप किया। सन् 579 ई. में नौशेरवाँ का परलोकवास हुआ।

नौशेरवाँ का पुत्र हुरमुज्ज थोड़े ही दिन राज्य करके मारा या और उसका बेटा खुसरो परवेज़ सेनापति बहराम चोवी के विद्रोह का दमन कर, सन् 590 ई. में तख्त पर बैठा। रोमन राज्य के झगड़ों में वह बराबर हाथ डालता रहा और उसकी सेना कुस्तुतुनिया तक जा पहुँची थी। उसने यहूदियों और ईसाइयों के आदि स्थान दमिश्क और यरूशलम पर अधिकार किया और वह ईसाइयों के परम पवित्र क्रूस को जो यरूशलम में स्थापित था, उखाड़ लाया। सारे एशिया कोचक को तहसनहस करता हुआ वह मिस्र में पहुँचा और उसपर अधिकार किया। यह बड़ा उद्धत और अत्याचारी बादशाह था। उसके समय में बहुत से अरब मुसलमान हो चुके थे और उनमें लूटपाट की प्रवृत्ति के साथ इस्लाम का जोश भर रहा था। खुसरो परवेज़ के समय में अरबी सीमा पर नौमान नाम का एक पराक्रमी सरदार नियुक्त था जिसके डर से जंगली अरब

पारस साम्राज्य में कुछ उपद्रव नहीं करने पाते थे। खुसरो परवेज ने बड़ी भारी मूर्खता यह की कि नौमान को मरवा डाला। इससे अरबों की कुछ धड़क खुल गई, यहाँ तक कि वक्र-बिन-बायल नाम के एक फिरके ने इरफात के किनारे लूटपाट करके पारसियों की एक सेना को हरा दिया।

क्रूस के छिन जाने पर ईसाइयों में बड़ी खलबली मची। रोमन सम्राट हिराक्लियस पराजय की लज्जा दूर करने और बदला लेने के लिये काकेशस पहाड़ से बड़ी धूमधाम से चढ़ा और इस्फहान के पास तक आ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर 6 जनवरी सन् 628 को उसने बड़ा भारी भोज दिया। रोमनों की यह तैयारी देख खुसरो परवेज भाग खड़ा हुआ। पर पारस लड़ने को तैयार था। इससे रोमन सम्राट ने भी भागने ही में कुशल समझी। उसका उद्देश्य तो केवल लज्जा निवारण था। खुसरो परवेज अपने अत्याचारों के कारण छोटे-बड़े सबको अप्रिय हो गया। उसका भागना देख लोगों को उससे और भी घृणा हो गई। उसने शीरी नाम की एक ईसाई लड़की से विवाह किया था। उसने उससे उत्पन्न पुत्र मरदानशाह को सिंहासन देने के उद्देश्य से अपने लड़कों को कैद किया। अंत में सरदारों ने उसके पुत्र कबाद द्वितीय को कैद से निकालकर गद्दी पर बैठाया और खुसरो परवेज को प्राण दण्ड दिया। (25 फरवरी 628 ई.)

कबाद द्वितीय केवल 6 महीने राज्य करके मरा जिससे अर्दशीर तृतीय नाम का एक सात वर्ष का बालक गद्दी पर बैठाया गया। उसके समय में ईसाईयों का क्रूस रोमन सम्राट के पास भेज दिया गया जिसने उसे बड़ी धूमधाम से यरूशलम में प्रतिष्ठित किया। बच्चे को गद्दी पर देख सेनापित शहरबराज ने राज्य हाथ में करना चाहा और चट अभिसंधि के लिये वह रोमन सम्राट से मिला। उसने इस्फहान लिया और बालक अर्दशीर को मार डाला। पर सरदार उठ खड़े हुये। शहरबराज मार डाला गया और उसकी लाश गलियों में घसीटी गयी। कुछ दिनों तक खुसरो परवेज की बेटी बोरों और फिर उसकी बहिन आजारमिदोख्त तख्त पर रहीं। यह गड़बड़ बहुत दिनों तक रही। अंत में सरदारों ने खुसरो परवेज के पोते शहरयार के बेटे एक दूसरे बालक को सन् 633 ई. में अग्निमन्दिर में यज्जर्द तृतीय के नाम से तख्त पर बैठाया

अरब में इस्लाम का जोर उस समय खूब बढ़ती पर था। पारस साम्राज्य की गड़बड़ी में यमन और उत्तरी अरब का कुछ भाग अरबों ने ले लिया था। मुसन्ना नाम का बहुओं का एक सरदार जो हाल ही में मुसलमान हुआ था, पारस राज्य में लूटपाट करने लगा। थोड़े ही दिनों में मुसलमान अरबों का सेनानायक खालुद-बिन-वालिद बहुओं का सेनापति हुआ। इफरात के पश्चिमी किनारे पर ईसाई बसे थे जो पारसियों के आर्य धर्मानुयायी होने के कारण उनसे द्वेष रखते थे। वे गुप्त रीति से अरबों की सहायता करने लगे। अरबों ने इफरात पार किया और पारस के राज्य में लूटपाट की।

कहते हैं कि पारसी सेनापति रुस्तम और फिरुजन की आपस की फूट से

पारसी अरबों का ठीक सामना न कर सके। जब अरबों की लूटपाट बढ़ रही थी तब 14 मुसमान दूत मदयान (वर्तमान टिसिफन) पर यज्जर्द से मिलने आये यज्जर्द ने पूछा कि तुम्हारी भाषा में चोगा, चाबुक और खड़ाऊँ का नाम क्या है। उन्होंने कहा कि बुर्द, सौत और नाल, पारसी भाषा में इनके समानोच्चारण शब्द बुर्दन, सुख्तन और नलीदन का अर्थ बाँधना, जलाना और विलाप करना होता है। यह सुनते ही यज्जर्द का चेहरा जर्द हो गया। राजा के पूछने पर दूतों ने कहा कि हम इस्लाम को जो ईश्वर का एक मात्र सच्चा धर्म है, फैलाने आये हैं। और कर लेकर या जीतकर लौटेंगे। इस पर राजा ने एक थैले में मिट्टी भरा कर उसके सिर पर यह कहकर रखवा दिया कि तुम्हें यही कर मिलेगा और उन्हें अपमानपूर्वक निकाल दिया। अरब दूतों में प्रधान असीम अलीम बड़ी प्रसन्नता से मिट्टी उठाकर ले गए और अपने सेनापति के पास उसे रखकर कहा कि पारस की भूमि हमारी हो गई। यह चेटक भी अरबों को उत्तेजित और पारसियों को निराश करने में सहायक हुआ। कदेसिया (ई. स. 636) और जलुला (सन् 637) की लड़ाईयों में पारसी सेना हारती गई। इस बीच में खालुद बुला दिया गया और अबु ओबैद बहुओं का नायक हुआ जिसे पारसी सेना ने मार भगाया। अंत में खलीफा उमर ने एक बड़ी सेना को इराक लेने के लिये भेजा। उसने इस्लाम फैलाने का जोश दिलाया और पारस को स्वर्ग भूमि में प्रवेश कराने का लोभ दिखाया। पारसी लोग अरब वालों को जंगली समझ उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनकी ओर उनका कभी ध्यान ही नहीं गया था पर जब उन्होंने सुना कि अरबों ने रोमन लोगों से शाम का मुल्क ले लिया तब उनके कान कुछ खड़े हुये और उन्होंने रुस्तम को एक बड़ी सेना और “दुरफशे कावियानी”¹ नाम की प्राचीन पताका के साथ भेजा। अरब और मुसलमानों के नायक साद-इब्न-अबी-वक्का के साथ फदीलिया के मैदान में युद्ध हुआ जिसमें रुस्तम मारा गया और दुरफशे कावियानी छिन गया। इस जीत की उमंग में मुसलमान इस्फहान की ओर बढ़े। यज्जर्द की अवस्था उस समय केवल 17 वर्ष

1. यह पारसी जाति की जातीय पताका थी और कई हजार वर्ष से पारसी सम्राटों के पास वंश परम्परा से चली आती थी। इसकी कथा इस प्रकार है। जमशेद को मार जुहाद नाम का एक अत्यन्त क्रूर एवं अत्याचारी मनुष्य फारस के तख्त पर बैठा। उसके कंधे पर दो ज़ख्म थे जिनकी पीड़ा की शान्ति आदमी के भेजे के मरहम से होती थी। इस मरहम के लिये रोज आदमी मारे जाते थे। इस अत्याचार से प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। अंत में कावः नाम का इस्फहान का एक लोहार, जिसके चार लड़के मारे जा चुके थे, चमड़े के एक टुकड़े को पताका की तरह बाँस में बाँधकर उठा और जुहाद (जुहाक) के अत्याचार का गीत गाता हुआ चारों ओर फिरने लगा। बहुत से लोग उसके झण्डे के नीचे आये और उसने पहले इस्फहान और फिर सारा पारस ले लिया। जमशेद का वंशज फरीदुँ गद्दी पर बैठाया गया। उसी समय से चमड़े की यह पताका पारसी सम्राटों की विजय-लक्ष्मी का चिह्न समझी जाने लगी और इसकी पूजा होने लगी। पारस के बादशाह इसे अनेक प्रकार के रत्नों से विभूषित करते आये। जिस समय यह पताका अरब के मुसलमानों के हाथ में आई उस समय यह जवाहरात से इतनी लदी हुई थी कि इसका मूल्य कोई नहीं आँक सकता था। अंत में खलीफा उमर ने इसे चूर-चूर किया।

की थी। वह बेचारा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भागता रहा। इधर अरबों के झुण्ड के झुण्ड आते रहे। अंत में 640 और 642 ई. के बीच नहाबंद की लड़ाई हुई जिसमें पारस के प्रताप का सूर्य सब दिन के लिये अस्त हो गया। पारस के निवासी जबरदस्ती मुसलमान बनाये जाने लगे। इस प्रकार आर्यधर्म और आर्यसभ्यता का लोप पारस से हो गया। यहाँ तक कि आर्य पारस की भाषा भी अरबी में मिलकर अपना रूप खो बैठी। इतने दिनों तक यूनानी (यवन) नाम की यूरोपीय जाति का अधिकार पारस पर रहा, पर पारस के भीतरी जीवन में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ था। पर इसलाम ने घुसकर आर्य संस्कारों का सर्वथा लोप कर दिया पारस की सारी काया पलट गई।

नहाबंद की लड़ाई के पीछे यज्जर्द कभी इस प्रदेश के शासक के यहाँ मेहमान रहता, कभी उस प्रदेश के। अपनी इस स्थिति में भी वह अपने नाम के सिक्के ढलवाता जाता था। अंत में दूरस्थ में प्रदेश में भी वह अपने नाम के सिक्के ढालता रहा। वर्म प्रदेश में एक चक्की वाले की शरण जाकर उसी के हाथ से, वहाँ के शासक के इशारे पर मार डाला गया। खुरासान प्रदेश का स्याहपत (सेनापति) जो ससानवंश का ही था तवीस्तान नामक उत्तर के पहाड़ी प्रदेश में जाकर ससानवंश और जरथुस्त्र धर्म का नाम जगाता रहा। लगभग 100 वर्ष तक उसके वंशजों ने वहाँ राज्य किया पर वे खलीफा को कर देते रहे।

नहाबंद की लड़ाई के पीछे जब पारस पर अरब के मुसलमानों का राज्य हो गया और पारसी जबरदस्ती मुसलमान बनाये जाने लगे तो बहुत से पारसी अपने आर्यधर्म की रक्षा के लिये खुरासान में आकर रहे। वहाँ वे लगभग सौ वर्ष रहे। जब वहाँ भी उपद्रव देखा तब पारस की खाड़ी के मुहाने पर उरमुज टापू में उसमें से कई भाग आए और वहाँ 15 वर्ष रहे। आगे वहाँ भी बाधा देख अंत में वे एक छोटे जहाज में बैठ अपनी पवित्र अग्नि और धर्म पुस्तकों को ले अपनी अवस्था की गाथाओं को गाते हुए खंभात की खाड़ी में दीव (संस्कृत द्वीप Diu) टापू में आ उतरे जो आजकल पुर्तगालियों के हाथ में है। वहाँ 19 वर्ष रहकर वे भारतवर्ष में आ गये जो सदा से शरणागतों की रक्षा के लिए दूर देशों में प्रसिद्ध था। दीव छोड़ने का कोई कारण विदित नहीं किन्तु कहते हैं कि एक फारसी दस्तूर (याजक) ने भविष्यवाणी की थी कि नक्षत्रों की गणना से अब आगे अभ्युदय का योग आया है। सन् 716 ई. के लगभग वे दमन के दक्षिण 25 मील पर संजान नामक स्थान पर आ उतरे। वहाँ से स्वामी जाड़ी राना को उन्होंने सोलह श्लोकों में अपने धर्म का आभास दिया। राजा ने उनके धर्म की प्राचीन वैदिक धर्म से समानता देखकर उन्हें आदरपूर्वक अपने राज्य में बसाया और अग्निमन्दिर की स्थापना के लिये भूमि और कई प्रकार की सहायता दी। सन् 721 ई. में प्रथम पारसी अग्निमन्दिर बना। उन्हीं पारसियों की सन्तान गुजराज, ~~वर्नाई आदि में फैली हुई है। भारतीय पारसी अपने संवत् का प्रारम्भ अपने अस्तित्व~~ ~~1. क्रम से तब 772 तक हुई। नैर्घमा, यज्जर्द सन् 85 राजा का मह भूमि पारसी लेखकों~~ ~~का नाम केन्द्रादेके नामावलीक लिखी दिखी हैं। पीछे से इस संवत् में अधिमास (कबीसा)~~ गिनने न गिनने के विवाद पर उनमें शहनशाही और कदमी नामक दो भेद हो गये। चिन्तन-सृजन वर्ष-2 अंक-1

धर्मनिरपेक्षवाद

फ्रांस्वाँ गुतियर*

अनुवादप्रणव कुमार

बहुत से स्वातंत्र्योत्तर-भारतीय, मुख्यतया कांग्रेस के राजनीतिज्ञों ने इस तथ्य का प्रायः राग अलापा है कि, “अंग्रेजों ने भारत में धर्मनिरपेक्षवाद से श्रेष्ठतर रिक्थ नहीं छोड़ा।” परन्तु धर्मनिरपेक्षवाद के नाम पर भारत को कितनी अपूरणीय क्षति हुई, कितनी जड़ता मिथ्यापवाद के अम्बार भारत-भूमि पर लगा दिए गए!

विशुद्ध रूप में पंथ निरपेक्ष भारत का सौन्दर्य तथा प्रतिभा वास्तव में आकर्षक है। कौन ऐसे भारत की कल्पना नहीं करेगा जहाँ सभीमुस्लिम, हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई, नेपाली, उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, असमिया तथा कश्मीरी मैत्री-भाव से रहें। विश्व में ऐसा कौन राष्ट्र है जो इतने वैविध्य में प्रतिष्ठित हो प्रजातियों, धर्मों तथा नृ-जातीय-समूहों की ऐसी पच्चीकारी अविश्वसनीय है। जहाँ केन्द्र में एक लोकोपकारी, सुधारोन्मुख, असाम्प्रदायिक प्रशासन हो जो धार्मिक तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता प्रदान करने में सक्षम हो ताकि संयुक्त भारत में प्रत्येक धर्म व संस्कृति की सम्यक् अभिव्यंजना संभव हो सके। हमारे पूर्व काल के शासकों ने क्या यही रिक्थ प्रदान किया था?

वस्तुतः जब अल्पसंख्यक अंग्रेज यहाँ आए, तब उन्होंने अनुभव कर लिया था कि इतने विशाल राष्ट्र पर इतने कम जनों द्वारा शासन असम्भव था। वे इस राष्ट्र के विभाजन के लिए सन्नद्ध हो गए प्रत्येक समुदाय को दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी प्रस्तुत किया गया। मुसलमान तो तैयार ही बैठे थे। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य तथा पाकिस्तान के निर्माण के लिए अंग्रेजों पर उत्तरदायित्व डालना सर्वथा अनुचित है। हिन्दू-मुस्लिम विभेद मुसलमानों द्वारा उत्पन्न की गई धार्मिक असंगति की समस्या है; वे हिन्दुत्व को निकृष्ट (infidel) धर्म स्वीकार करते हैं सर्वथा नष्ट करने योग्य। अंग्रेज शान्ति स्थापित कर रहे थे अब खड्ग द्वारा द्वन्द्व नहीं हो रहा था, परन्तु उन्होंने भारत को दर-उल्ल-इस्लामइस्लाम की भूमि बनाने की पीड़ादायक असमर्थता के परिप्रेक्ष्य में

* फ्रांसीसी पत्रकार तथा लेखक, गुतियर भारत तथा दक्षिण एशिया में फ्रांस में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले समाचार-पत्र 'ले फिगारो' के राजनीतिक संवाददाता हैं। उनकी कृति है 'अराइज, ओ इंडिया'।

मुसलमानों की पृथक् रहने की उत्कट अभिलाषा को भाँप लिया था। उसी प्रकार सिक्खों के, जिन्होंने उग्र संघर्ष किया था, असंतोष का लाभ उठाया, और इस प्रकार शान्तिकाल में निष्ठापूर्वक सेवा कर सिक्ख गोरखा लोगों की भाँति राज के सर्वश्रेष्ठ सैनिक बने। परन्तु अल्पसंख्यकों, यथा मुसलमानों (या ईसाइयों) और बहुसंख्यक समुदायहिन्दुओं के प्रति व्यवहार में समत्व स्थापित करने की प्रक्रिया में अंग्रेज सहज ही भूल गए कि भारत में 30 करोड़ से अधिक हिन्दू थे, तथा हिन्दुत्वभारत की महानता तथा अस्मिता की आधारशिलाधर्म : साक्षात् सत्य है।

जब उन्होंने भारत पर अधिनायकत्व स्थापित कर लिया, तब अंग्रेजों ने भारतीयों के एक मध्यस्थ वर्ग की स्थापना कर ली, जो प्रशासन में मध्यवर्ती सोपानकों के दायित्वों का वहन कर सके तथा जिसके माध्यम से प्रातिनिधिक शासन (rule by proxy) चलाया जा सके। इन ब्रिटिश क्लोनों (clone) के निर्माण में शिक्षा-व्यवस्था ने उपकरण की भूमिका निभायी। भारत में ब्रिटिश शिक्षा-व्यवस्था के पोप, मैकाले की अभिलाषा थी कि “हमें एक ऐसे वर्ग के निर्माण में दत्तचित्त हो जाना चाहिए जो शासितों तथा अपने मध्य संवाद स्थापित करने में सक्षम हो, जो रक्त एवं वर्ण में भारतीय हों, परन्तु जिनकी रुचि, सम्मति, आचार एवं विचार ब्रिटिश हो।” हिन्दू संस्कृति तथा शिक्षा के प्रति मैकाले श्रद्धावान् नहीं था :

“संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध सम्पूर्ण ऐतिहासिक सूचनाओं की तुलना में इंग्लैण्ड के प्रारम्भिक विद्यालयों में प्रयुक्त निकृष्ट संक्षेपणों में प्राप्य ज्ञान कहीं श्रेष्ठतर है।” अथवा, “निरर्थक अंधविश्वासों से परिपूर्ण हिन्दुओं के साहित्य में अंतर्निहित मूल्य नगण्य हैं, तथा नैतिकता से उनका सामंजस्य कठिन है...”

मैकाले के विचारों से मार्क्सवादी तथा मुस्लिम विचारक पूर्णतया सहमत हैंउनके स्वप्न पूरे हो गए‘भारतीय एवं आध्यात्मिक शिक्षा’ के विरोध में ‘भूरे साहबों’ की संततियाँ‘सेक्यूलर’ राजनीतिज्ञ, पत्रकार, उच्च पदस्थ नौकरशाह ही नहीं सम्पूर्ण पाश्चात्याभिमुख महाजनसन्नद्ध हैं। यह विडम्बना ही है कि इनमें सर्वाधिक हिन्दू हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में उन्होंने भारत को स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होने दिया तथा अनुपम भारतीय मानसिकता एवं मनोवृत्ति के आलोक में अनुकूलित किए बिना ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था का अंधानुकरण किया, और पूर्णतया प्रतीच्याभिमुख तथा जीवन में प्रायः अनावश्यक नीरस आँकड़ों को कण्ठस्थ किए हुए संवेदनाशून्य छात्रों का सृजन कर रही शिक्षा व्यवस्था में किए गए परिवर्तनों को अस्वीकृत उन्होंने ही किया है। इतने अकिंचन परन्तु प्रतिभावान छात्रों से परिपूर्ण इस राष्ट्र को इस शिक्षा व्यवस्था से क्या मिल रहा हैएमटीवी (MTV) संस्कृति में पनपते पश्चिम की नकल करते धनाढ्य परजीवी युवक जो (Mac Donald's) जाते हैं तथा Klein जीन्स व Lacoste टी शर्ट पहनते हैं। टाइ पहने, ‘न्यूयार्क टाइम्स’ पढ़ते तथा स्वराष्ट्र को महाविनाश से बचाने के लिए उदारवाद तथा धर्मनिरपेक्षवाद की अत्यावश्यकता पर

बल देते विकासशील राष्ट्रों में प्राप्य उन लाखों पाश्चात्य क्लोनों (clones) की भाँति वे बढ़ रहे हैं। समय के साथ वे उच्च पदों पर आसीन होंगे, तथा आलेख एवं पुस्तक लिखेंगे जिसमें भारत की स्थिति हास्यास्पद होगी। मानवाधिकार समितियों का संचालन करते, ये उच्चपदस्थ ‘सेक्यूलर’ नौकरशाह भारत को बहुत क्षति पहुँचाते हैंस्वराष्ट्र के प्रति हीन-भावना तो उनके जीन में ही डाल दी गई है। सारांश यह है कि वे सदा पश्चिम की ओर मुड़ते हैं अनुमोदनार्थ, यही नहीं भारत को भी वे पाश्चात्य ऐनक से ही देखते हैं। विकास की एक आवश्यक शर्त है स्वराष्ट्र के प्रति गर्व की भावना : भारत की महानता तथा रिक्थ से अभिन्न एक विशिष्ट बौद्धिक वर्ग के बिना, जिसका एक छोटे स्तर पर सृजन होने लगा है, 21वीं शताब्दी में भारत के लिए वास्तविक महाशक्ति बनना बहुत कठिन प्रतीत होता है।

सौजन्य : डायलॉग, 5 : 2

सेक्युलर होने का सुख

डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश'*

वह सेक्युलर हो गया है, अब मजे में है। पहले इन्सान था, तो दुःखी था। सत्कर्म भी करता था तो आलोचना होती थी, अब धत्कर्म भी करता है तो तारीफ होती है। सब कहते हैं, सेक्युलर है। सेक्युलर होकर वह बहुत सुखी है। सारी चिन्ताएँ मिट गई हैं।

जब से जयकिशन से वह 'जैक्सन' बना है, उसका मनोबल बढ़ा हुआ है। कहता है जैक्सन नाम कितना सेक्युलर है। जयकिशन भी कोई नाम था। साम्प्रदायिकता की बू आती थी। अब वह आत्ममुग्ध स्थिति में है। उसने घोषणा कर दी है कि वह घर के सारे नाम बदल डालेगा। सेक्युलर और प्रगतिशील होने का यह न्यूनतम कार्यक्रम है। उसने इस पर अमल भी शुरू कर दिया है। अपने बड़े बेटे रविराय को 'रोबीरोय' और छोटे बेटे राम कुमार को 'रैम कूमर' कह कर बुलाने लगा है। बेटी स्वाति अब 'स्वेतलाना' और पत्नी सुषमा अब 'सूसन' हो गई है। उफ! बुजुर्गों ने कैसे-कैसे सम्प्रदायिक नाम रख छोड़े थे। अब वह क्रान्ति करने और बदला लेने के मूड में है। बुजुर्ग बाप को बुर्जुआ करार दे दिया है। इस पर भी उसका कहना है कि उसने बाप के साथ रियायत बरती है। बुजुर्ग को महज बुर्जुआ ही तो कहा है। कुछ और कह देता तो क्या कर लेता। बाप होने से क्या होता है, आखिर है तो परम्परावादी न। जब उसके प्रगतिशील मित्र निःशंक होकर अपने पुरखों को गाली दे सकते हैं तो वह बाप को क्या बुर्जुआ भी नहीं कह सकता? हालांकि उसे इस शब्द का अर्थ भी नहीं पता। पता तो खैर उन भकुओं को भी नहीं है जो निर्बुद्ध मुद्रा में इस शब्द का निरन्तर प्रयोग करते आ रहे हैं। उन्हें अर्थ की समझ से क्या लेना! यूँ भी सेक्युलर होने के लिए समझदारी की क्या जरूरत है? ललबुद्धि विदेशी आकाओं को खुश करने के लिए देश के इतिहास, विचार, परम्परा और संस्कार को गाली दो। बस इतनी ही योग्यता काफी है। यही सच्चा जनवाद है। पिछली एक सदी से इस देश के साथ वे यही तो करते आ रहे हैं। फिर उन्हें देश से क्या लेना-देना। वे तो इन्टरनेशनल हैं। देश की धारणा भी कोई धारणा है। यह तो बुर्जुआ सोच है। अफीमची खयाल है, एक छलावा है। देसी सेक्युलर इस छलावे में नहीं आते। वे तो विश्व-बिरादरी के लोग हैं। उनका नारा हैसंसार के भकुओं, एक हो जाओ।

* डॉ. नन्दलाल मेहता, 'वागीश, गुडगाँव, हरियाणा

मुझे देसी भकुए अच्छे लगते हैं। अपने देश का तो झाड़-झंखाड़ भी अच्छा लगता है। फिर वे तो मानुस हैं। कम-से-कम शक्ल तो आदमी की है। आदमियत कौन पूछता है। सब शक्ल देखते हैं। फिर वे कितने भले हैं। आज से सत्तर साल पहले जहाँ खड़े थे, आज भी वहीं खड़े हैं। भले ही उनके आकाओं ने नब्बे डिग्री पर अपना सब कुछ बदल लिया हो, पर वे तो जस-के-तस हैं। कितने स्थिरमति हैं। कितनी विलक्षण चारित्रिक दृढ़ता है। मूढ़ता की हद तक दृढ़ता बनाए रखना कोई साधारण बात है? कितनी मेहनत करनी पड़ती है। देखो न, कितनी मेहनत से ही उन्होंने अपनी अगति (दुर्गति) पर प्रगति का खोल चढ़ाया है। एक-दूसरे को लतियाते और जूतियों में दाल बाँटते हुए मैत्री के गठबंधन गढ़े हैं। प्रगतिशीलता के लिए इतना तो करना ही पड़ता है। यह अन्दर की बात है। किस्सा कोताह यह कि वे 'सहमत' हैं। अब प्रतिक्रियावादी लोग 'सहमत' का अर्थ भाई-चारे का सम्बन्ध या सहमति लगाते हैं तो यह उनके भाषा-ज्ञान का दोष है। वे इसमें क्या कर सकते हैं। उन भकुओं ने तो अपने कारकुनों को सीधा संदेश दिया है कि सहमत यानी किसी को सहन मत करो। देखा, कितनी पारदर्शी सेक्युलर ईमानदारी है। दूसरों को सहन करते रहेंगे तो समाज में समता कैसे आएगी।

उन्होंने जनवाद के कई सूत्र खोज निकाले हैं। मुख्य सूत्र यह कि तुम क्रिया इस ढंग से करो कि दूसरा पक्ष प्रतिक्रिया करे। दूसरे के मुख पर समाज विरोधी होने की कालिख पोत दो, फिर देखो कैसे मिमियाता है। कालिख पोतना क्रिया है, मिमियाता प्रतिक्रिया है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। अपनी नाक साफ कर खम्बे पर मलते रहो, एक-न-एक दिन खम्बा बदनाम हो जाएगा। सार्वजनिक रूप से दूसरे पर जोरदार आरोप लगाओ। दूसरा लाख सफाई देता फिरे, कोई फर्क नहीं पड़ेगा। आरोपों को सभी ध्यान से सुनते हैं। सफाई को कौन पूछता है। जहाँ दूसरों के मुख पर कालिख पोतने की सुविधा भी न हो तो वहाँ काम करने के मौलिक अधिकार का क्या अर्थ है? यही जनवादी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए देश भी तोड़ना पड़े तो क्या फर्क पड़ता है। देश की चिन्ता करेंगे तो विश्व-बिरादरी को क्या मुँह दिखाएँगे? देश तो बना ही टूटने के लिए है। पहले भी टूटता रहा है। बेचारे जयचन्द और मीरजाफर तो व्यर्थ में बदनाम हुए। वे इन्टरनेशनल हुए होते तो क्या उन पर देश-द्रोह का कोई इलजाम लगता अब हम पर लगा कर देखें न। उन्हें ही साम्प्रदायिक सिद्ध न कर दिया तो हमारे सेक्युलर इतिहास पर लानत। हमें ऐसे ही इतिहास का पुनर्लेखन करना है। अब भला राष्ट्रभक्ति और वन्देमातरम् भी कोई चीज है। कितना संकीर्ण और दकियानूसी विचार है। अब तो विश्व-ग्राम की बात होनी चाहिए। ग्लोबल विलेज। दरअसल सच्चे सेक्युलर के लिए मातृभूमि का रिश्ता भी कोई शय है, वह तो सगी माँ के रिश्ते की कपाल क्रिया करने पर भी उतारू रहता है। इसलिए माँ के सीने पर लगा घाव उसके सरोकार का विषय नहीं, सूचना का विषय है। आखिर वह ठहरा सच्चा सेक्युलरिस्ट।

अनावश्यक भाषायी विवाद

श्री भगवान सिंह*

गलतबयानी करना निस्संदेह एक बहुत बड़ा गुनाह है, लेकिन उससे भी बड़ा गुनाह है गलतबयानी के जरिये उसका प्रतिवाद करना। कमलेश्वर जी ने अपने लेख 'वो परेशान-सा क्यों है' (हिन्दुस्तान 14 मार्च, 2004 में प्रकाशित) में भाजपाई नेता श्री विनय कटियार के इस कथन कि 'उर्दू दहशतगर्दी की भाषा है' का प्रतिवाद कर सही काम किया है, लेकिन इस क्रम में वे खुद भी हिन्दी उर्दू के सम्बन्धों को लेकर कई गलतबयानियाँ करते दिखाई देते हैं।

कमलेश्वर जी का यह कहना कि "आखिर हिन्दुत्ववादी दहशतगर्दी की असली भाषा भी तो हिन्दी है", हिन्दी के पूरे राष्ट्रीय एवं सेक्यूलर चरित्र की अवमानना है। विनय कटियार जैसे व्यक्ति अपने हिन्दी प्रेम या हिन्दी लेखन के कारण नहीं, अपनी राजनीतिक विचारधारा एवं कार्यों के लिए जाने जाते हैं, लेकिन कमलेश्वर जी तो हिन्दी लेखन के कारण जाने जाते हैं। अतएव उनके जैसे हिन्दी लेखक को हिन्दी के सम्बन्ध में ऐसा बयान नहीं देना चाहिए था। वैसे कोई भी भाषा अपने आप में दहशत या आतंक की भाषा नहीं होती। भाषा तो प्रकृत रूप में मनुष्यों को जोड़नेवाली कड़ी होती है और यह बात कमलेश्वर जी जैसे साहित्यकार से अधिक कौन जान सकता है। भाषा के इस मर्म से अपरिचित विनय कटियार जैसे व्यक्ति ने अगर उर्दू के सम्बन्ध में अपना अज्ञान प्रकट किया, तो कतई आवश्यक नहीं कि इसकी प्रतिक्रिया में वे भी अपने भाषाई ज्ञान एवं विवेक को धूमिल करें।

निस्सन्देह उर्दू ने भी राष्ट्रीयता की काफी सेवा की है, किन्तु वह मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति का शिकार होकर पृथक राष्ट्रीयता के आन्दोलन से जुड़ गई और उसके डॉ. इकबाल जैसे कवि-बुद्धिजीवी मुस्लिम राष्ट्रीयता के पैरोकर बन बैठे एवं विभाजन के बाद 'शायरे इन्कलाब' के रूप में मशहूर रहे जोश मलीहावादी उर्दू का भविष्य पाकिस्तान में महफूज समझ कर पाकिस्तान चले गए। हालाँकि विभाजन के बाद भी उर्दू के अनेक शायर हिन्दुस्तान में रहकर राष्ट्रीय एकता एवं संस्कृति के स्वर को परवान चढ़ाते रहे। हिन्दी को केवल हिन्दुओं की भाषा मानने और इसके

*प्राचार्य, हिन्दी विभाग, ति.मा. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर-812001 (बिहार)

आधार पर अलग राष्ट्र बनाने का आन्दोलन हिन्दी के किसी बड़े लेखक, कवि ने खड़ा किया हो, इसकी कोई मिसाल नहीं।

फिर कमलेश्वर जी द्वारा अपने लेख में 'उर्दू भाषा को हिन्दी की एक शैली' मानने पर आपत्ति करना तथा "उर्दू को अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं के वर्चस्व से मुक्त करनेवाली भाषा" मानना उनके हिन्दी-उर्दू के विकास के इतिहास के प्रति पूर्वग्रह को दर्शाता है। उन्होंने लाहौरी भाषा के कवि रूप में जिस मसूद-बिन-सअद-सलमान का उल्लेख किया है, अगर उसकी कविता का कोई नमूना पेश किया होता, तो हमें उस वक्त की लाहौरी भाषा के ढाँचे का पता चलता। बहरलाल हमें यही अनुमान करना पड़ता है कि वह लाहौरी भाषा हिन्दवी या बाद में विकसित हुई उर्दू से मिलती-जुलती होगी। फिर जिस उर्दू भाषा की हिन्दी या हिन्दवी या खड़ी बोली से पृथक सत्ता के रूप में कमलेश्वर जी बात करते हैं, उसका मूल ढाँचा कहाँ से आया, यह बताने का वे कष्ट नहीं करते।

गौरतलब है कि वर्षों से कतिपय भाषा-वैज्ञानिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के क्रम से होते हुए हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को सिद्ध करते रहे, लेकिन आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' जैसी पुस्तक लिखकर पहली बार रहस्योद्घाटन किया कि जिसे हम हिन्दी कहते हैं, वह संस्कृत के जमाने से अपने मौलिक स्वरूप के साथ कुरु जनपद की बोली के रूप में विद्यमान रही। उन्होंने बहुत विस्तार से सिद्ध किया है कि हिन्दी के क्रियापदों में लिंग भेद "हैं, हूँ, था, थी, गा, गी" जैसी सहायक क्रियाओं एवं "ने, को, का, से" आदि कारक विभक्तियों का चलन आदि हिन्दी के मूल ढाँचे के अंग हैं। हिन्दी के इसी मूल ढाँचे पर उर्दू खड़ी हुई जब उसे फारसी लिपि का लिबास पहनाया गया। धीरे-धीरे लिपि भेद से आगे बढ़ते हुए शब्दों, उपमाओं, रूपकों आदि के स्तर पर उसे हिन्दी से अलग किया जाने लगा। जब हिन्दी से अलग किया जाने लगा तब उसमें केवल अरबी-फारसी शब्दों की भरमार होने लगी और यहाँ के देशज शब्दों को चुन-चुनकर बाहर किया जाने लगा, जो उर्दू में मतरूक आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। पदम सिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी' में इस अलगाववादी प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "हमारी हिन्दी भाषा एक थी और एक है, पर हिन्दी और उर्दू के नाम भेद से उसके दो जुदा-जुदा रूप माने जाने लगे। उसके उपासकों ने अपनी-अपनी रुचि और संस्कृति के अनुसार उसकी विभिन्न आकार-प्रकार की दो मूर्तियाँ बनाकर खड़ी कर दी है। उर्दू लेखकों में फारसी और अरबी पढ़े-लिखे विद्वानों की आरम्भ से ही अधिकता रही है, इसलिए उन्होंने उर्दू में न केवल अरबी-फारसी के कठिन शब्दों का बहुलता में व्यवहार किया, बल्कि व्याकरण और पिंगल में भी अरबी-फारसी के ही अस्वाभाविक और अनावश्यक नियमों का अनुकरण किया। यहाँ तक कि रस्मो-रिवाज और ऋतु आदि के वर्णन में फारसी और दूसरे देशों के प्राकृतिक दृश्यों का समा बाँधते रहे, उपमान और उदाहरण सब वहीं के उन्हें सूझते रहे। उर्दू

लेखकों की इस प्रवृत्ति ने उर्दू को एक नए विदेशी साँचे में ढाल कर हिन्दी से बलात् पृथक् कर दिया।”

पद्म सिंह जी के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि उर्दू का विकास अरबी-फारसी के वर्चस्व से मुक्ति दिलानेवाली भाषा के रूप में नहीं, बल्कि अरबी-फारसी संस्कृति के मोहपाश में बंधे कुछेक मुस्लिम बुद्धिजीवियों द्वारा हिन्दी की एक पृथक् शैली के रूप में हुआ! अब आज के हमारे सेक्युलर बंधुओं को अगर पद्म सिंह के कथन में ‘हिन्दुत्ववादी’ गंध महसूस होती हो, तो वे पाकिस्तानी लेखक मुबारक अली की पुस्तक ‘इतिहासकार का मतान्तर’ (राजकमल से प्रकाशित) की पृष्ठ संख्या-117 का यह अंश देश लें—“मध्य एशिया, ईरान तथा अरब से आया सभ्रान्त वर्ग स्थानीय चरित्र की किसी भी वस्तु को स्वीकार करने के लिए मानसिक रूप से प्रस्तुत नहीं था। इसके विपरीत तथाकथित शुद्ध रक्त की अवधारणा पर आधारित अहम् भाव से यह ग्रस्त था। इस वर्ग के लोगों ने इसलिए उर्दू की शुद्धता के लिए कदम उठाए, ताकि शासक व शासित श्रेणी की भाषा का अन्तर स्पष्ट होकर उभरे। सिराजुद्दीन खाँ आरजु (1756) ने इस प्रक्रिया को तेज किया तथा उर्दू के स्तर को ऊँचा उठाया। उन्होंने घोषणा की कि भाषा स्तर बादशाह तथा सभ्रान्त वर्ग के जोड़ने के काबिल हो। उन्होंने इसे उर्दू-ए-मुअल्ला नाम दिया।” इससे बहुत पहले उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मुहम्मद हुसैन आजाद ने अपनी पुस्तक ‘आब-इ-हयात’ में बताया था कि किस प्रकार ‘उर्दू के अरबी-फारसीकरण ने इसकी जड़ें इसके अपने वातावरण से ही काट दी और भारतीय पृष्ठभूमि की सारी उपमाओं को दरकिनार कर उनके स्थान पर अरबी-फारसी उपमाएँ भाषा पर थोप दी गईं। फलस्वरूप जो नए मुहावरे उभरे उनका न तो भारत के सांस्कृतिक परिवेश से कोई सम्बन्ध था, न ही विचार से।’

इन ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में उर्दू को ‘अरबी-फारसी के वर्चस्व से ‘मुक्तिदाता’ के रूप में पेश करना तथा हिन्दी की शैली मानने पर आपत्ति करना सरासर इतिहास विरोधी गतलबयानी नहीं तो क्या है? उर्दू किस क्षेत्र की जनभाषा रही और अगर रही तो जन जीवन में व्याप्त पर्व-त्योहारोंहोली, दीपावली को लेकर या फिर जनजीवन में लोकप्रिय, कृष्ण, गणेश, शिव-पार्वती जैसे चरित्रों को लेकर शायरी लिखनेवाले नजीर सकबरावादी को उर्दू के शुद्धतावादियों ने उर्दू अदब में अछूत क्यों बनाकर रख दिया था? स्पष्टतः इसके पीछे फारसी तहजीब की श्रेष्ठता का अहम भाव था।

बहरहाल हमारे जैसे लोग आज भी हिन्दी-उर्दू की एकता में विश्वास करते हुए दोनों को नजदीक लाने के प्रयासों के हिमायती हैं। इसमें शक नहीं कि हिन्दी को उर्दू शायरी में खूब माँजा गया है और उस पर हम हिन्दीवालों को भी गर्व है। धर्मनिरपेक्ष सोच का मतलब यह होना चाहिए कि धार्मिक कट्टरता को मिटाते हुए हिन्दी-उर्दू के बीच आए हुए बेगानेपन को दूर किया जाए जिसका सपना राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी देखते रहे।

पाकिस्तान का सत्य

दया प्रकाश सिन्हा*

आज से सत्तावन वर्ष पूर्व जून 1947 में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने देश के विभाजन के प्रस्ताव पर स्वीकृति दी थी। कांग्रेस द्वारा विभाजन स्वीकार करने का कारण बताते हुए, जवाहर लाल नेहरू ने ब्रिटिशय पत्रकार लियोनार्ड मोसले से सन् 1960 में कहा था—“सच बात तो यह है कि हम सब थके हुए थे और बूढ़े होते जा रहे थे। शायद ही कोई फिर से जेल जाने को तैयार था। अगर हम लोग अखंड भारत पर अड़े रहते तो हमें जेल जाना पड़ता।...”

जवाहर लाल नेहरू का यह कथन स्वयं उनकी मनःस्थिति को उजागर करता है; सब कांग्रेसजनों की नहीं। अनेक कांग्रेसी नेता, नेहरू जी से भी अधिक बूढ़े हो चुके थे, किन्तु वे नेहरू जी की तरह थके नहीं थे। वे अभी भी अखंड भारत की पूर्ण स्वतंत्रता हेतु संघर्ष चालू रखने के लिए कटिबद्ध थे। इन कांग्रेसजनों के सामने कुर्सी नहीं थीं, वह कुर्सी जिस पर नेहरू जी की निगाह जमीं थी। नेहरू जी जानते थे कि अगर वह देश का विभाजन स्वीकार कर लेंगे, तो उन्हें दो-चार महीनों के भीतर ही प्रधानमंत्री की कुर्सी मिल जाएगी। वह इस मौके को निकल जाने नहीं देना चाहते थे। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री का अर्थ था इतिहास में जगह। नेहरू जी ने इतिहास पढ़ा था और वह इस ऐतिहासिक अवसर का महत्त्व जानते थे। अतएव उन्होंने सब कुछ दाँव लगा दिया देश की अखंडता, ‘पूर्ण स्वतन्त्रता’ प्राप्त करने की शपथ।

जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में जनवरी, 1930 को ‘पूर्ण स्वतन्त्रता’ के कांग्रेस के लक्ष्य को प्राप्त हेतु संघर्ष करने के लिए रावी के तट पर शपथ ली गई थी। किन्तु जब उन्हीं जवाहर लाल नेहरू को अंतिम अंग्रेज वायसराय माउण्टबैटन ने पांसा फेंकते हुए कहा कि अंग्रेजी ताज के अधीन ‘डोमिनियन स्टेट्स’ दो महीने में मिल सकता है और ‘पूर्ण स्वतन्त्रता’ के लिए बारह महीने लग सकते हैं तो वह फिसल गए। रावी के तट की शपथ भूलकर उन्होंने तुरन्त ‘डोमिनियन स्टेट्स’ झपट लिया।

यह सही है कि अकेले नेहरू जी ने ही नहीं, बल्कि पूरी कांग्रेस कमेटी ने देश के विभाजन पर औपचारिक सहमति दी थी। साथ ही यह भी सही है कि देश के विभाजन पर सबसे पहले सहमति नेहरू जी की थी। माउण्टबैटन ने विभाजन के अपने

* दया प्रकाश सिन्हा आई.ए.एस. (सेवानिवृत्त), बी. 255, सेक्टर 26, नोएडा।

प्रस्ताव को ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति हेतु लंदन भेजने के पूर्व उस पर नेहरू जी की सहमति प्राप्त की थी। नेहरू जी ने यह सहमति बिना किसी अन्य कांग्रेसी नेता की सलाह या परामर्श के दी थी। उन्हें यह भरोसा था कि कांग्रेस को बाद में मना लेंगे।

जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सभी नेताओं को देश विभाजन और 'डोमिनियन स्टेट्स' के लिए मनवा भी लिया। किन्तु आल इंडिया कांग्रेस कमेटी (अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति) को मनाना टेढ़ी खीर था। कांग्रेस महासमिति के अधिकांश सदस्य मातृभूमि के खंड-खंड किए जाने के विरुद्ध थे। 'वन्दे मातरम' के सिंहानाद के द्वारा वह मातृभूमि की वन्दना करते थे। उसके टुकड़े करने के प्रस्ताव को वह कैसे सहन करते! अतएव नेहरू जी ने गाँधी जी को पकड़ा।

14 जून, 1947 को देश के विभाजन का प्रस्ताव कांग्रेस महासमिति की बैठक में प्रस्तुत हुआ। कांग्रेस वर्किंग कमेटी पहले ही विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार कर चुकी थी। अब इस पर कांग्रेस महासमिति की पुष्टि की आवश्यकता थी। अगर कांग्रेस महासमिति विभाजन को अस्वीकृत कर देती तो देश विभाजित न होता। और अगर देश विभाजित न होता तो नेहरू जी को प्रधानमंत्री की गद्दी कैसे मिलती? नेहरू कांग्रेस महासमिति द्वारा विभाजन के प्रस्ताव की अस्वीकृति की जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। अतएव उन्होंने गाँधी जी का पल्ला पकड़ा। गाँधी जी से अनुरोध किया कि वह 14 जून को कांग्रेस महासमिति की बैठक में उपस्थित रहकर, विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार करवाएँ।

गाँधी जी कांग्रेस महासमिति की 14 जून, 1947 की दिल्ली में आयोजित बैठक में विशेष आमंत्रित के रूप में पहुँचे। महासमिति के अधिकांश सदस्य विभाजन के विरोध में थे। अनेक सदस्यों ने खुलकर विभाजन पर अपना रोष प्रकट किया। इनमें अग्रणी राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन थे उन्होंने कहा कि, "वे स्वतन्त्रता संघर्ष जारी रखेंगे। देश को खंडित करके उनको स्वतन्त्रता नहीं चाहिए।" महासमिति के सदस्यों ने करतल ध्वनि से टंडन जी को सराहते हुए विभाजन के विरुद्ध अपना मत व्यक्त किया। सबसे अन्त में गाँधी जी बोलने आए।

गाँधी जी ने कहा, "आप बिना शक यह तो मानेंगे कि देश के विभाजन से जितनी चोट मुझे लगी है, उतनी और किसी को नहीं। और आज जितना मैं दुःखी हूँ उतना कोई और नहीं हो सकता है। लेकिन जो हो गया, वह गया। कार्यवाही समिति ने आपकी ओर से विभाजन स्वीकार कर लिया है। अगर आप इस प्रस्ताव को अस्वीकार करना चाहते हैं तो बेशक कर सकते हैं।...लेकिन अगर कांग्रेस कार्यसमिति ने इसे स्वीकार कर लिया है तो इसके पीछे भारी कारण हैं। और यह फैसला कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार ने मिल-जुल कर लिया है। कांग्रेस कार्यसमिति इससे पूरी तरह सहमत नहीं है, इसके बावजूद उसने इसे स्वीकार किया है।...अगर

आप इसे अस्वीकार कर देंगे तो पूरी दुनिया आपको गैर-जिम्मेदार कहेगी। इसलिए आपको उन लोगों की बात माननी चाहिए उन्होंने आपके नाम पर (विभाजन का) फैसला लिया है...यह जरूरी है कि आप जमाने की नजाकत को समझें। वक्त की माँग है कि हम अपनी ज़बान पर काबू रखें। (खामोश रहें) और वह करें जो हिन्दुस्तान के भले के लिए है।...हमें इस बुराई में भी अच्छाई निकालनी चाहिए।...अगर मिट्टी में सोना है, और चाहे मिट्टी बहुत ज्यादा हो, और सोना बहुत कम हो, फिर भी उसे फेंक नहीं देना चाहिए। हमें मिट्टी से भी सोना और हीरे निकालने चाहिए।...अगर जमीन का विभाजन हो जाता है तो क्या, लेकिन अगर हम दिल विभाजित करते हैं, तो कांग्रेस कार्य समिति का फैसला ठीक ही है।" (कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी : खण्ड 83, पृष्ठ 153)

गाँधी जी ने सबको खामोश कर दिया। विभाजन के विरोध में उठनेवाले स्वर गलों में भिंच गए। गाँधी जी को कांग्रेसजन देवता की तरह पूजा करते थे। पहले गाँधी जी विभाजन के विरुद्ध बोलते रहते थे। गाँधी जी ने विभाजन के विरोध में यह भी घोषणा की थी कि, "विभाजन मेरे मृत शरीर पर ही होगा।" जब वही गाँधी जी विभाजन के वकील बनकर दलीलें देने लगे, तो कोई क्या कहे! सब स्तंभित थे। आहत थे। सबने होठ-सी लिए। गाँधी जी के कहे अनुसार अपनी ज़बान पर काबू करके वे खामोश हो गए। उनकी गर्दन झुक गई। और उन्होंने अपना मन मार कर गाँधी जी के परामर्श के अनुसार विभाजन के पक्ष में मतदान किया।

प्रश्न उठता है कि गाँधी जी तो वर्ष 1934 से ही कांग्रेस के सदस्य नहीं थे। वह महासमिति के सदस्य भी नहीं थे, फिर वह 14 जून, 1947 की बैठक में क्यों आए? अगर वह विभाजन के विरोध में थे, तो महासमिति की बैठक में न आते। विभाजन पर प्रजातान्त्रिक रीति से जो स्वाभाविक रूप में फैसला होता वह हो जाता। गाँधी जी को आकर कांग्रेस महासमिति के विभाजन के पक्ष में निर्णय करवाने की क्या आवश्यकता थी? एक प्रचार है कि देश का विभाजन गाँधी जी की इच्छा के विरुद्ध हुआ। किन्तु 14 जून, 1947 की गाँधी जी की सक्रिय भूमिका को देखकर यह दिन के उजाले सा स्पष्ट होता है कि देश का विभाजन गाँधी जी की पूर्ण सहमति से हुआ था। वह कौन-सी मजबूरी थी जिसके कारण गाँधी जी ने विभाजन का विरोध करते-करते अचानक पलटा खाया और वह विभाजन स्वीकार करने के लिए कांग्रेसजनों से अनुरोध और अपील करने लगे?

गाँधी जी की मजबूरी और कारण जवाहर लाल नेहरू थे। जवाहर लाल सदा ही गाँधी जी की कमजोरी बने रहे। जब 14 जून, 1947 की महासमिति की बैठक के लिए नेहरू जी ने गाँधी जी को आमन्त्रित किया, वह निमंत्रण अस्वीकार कर सकते थे। इस प्रकार वह देश को विभाजित करने के अक्षम्य अपराध की जिम्मेदारी से बच जाते। किन्तु वह ऐसा नहीं कर सके। इसका कारण उन्होंने मनु गाँधी को उसी दिन

बैठक के पहले बताया था, “मैं जवाहर में निष्ठा और प्रेम साफ-साफ देख सकता हूँ।...उसका दिल टूट जाएगा अगर मैं अ.भा. कांग्रेस महासमिति की बैठक में नहीं गया। उसने मुझे अपने प्रेम का बन्दी बना लिया है।...” (कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी : खण्ड 83, 150)

तो यह कारण था गाँधी जी के महासमिति के बैठक में जाने का। नेहरू के ‘प्रेमबन्दी’ गाँधी जी, नेहरू का दिल नहीं तोड़ना चाहते थे। इसलिए महासमिति की बैठक में वह गए और उन्होंने देश तोड़ दिया। देश के विभाजन को स्वीकार कर नेहरू को प्रधानमंत्री बनाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

कभी-कभी नितान्त व्यक्तिगत कारण अप्रत्याशित मोड़ दे कर इतिहास की धारा की दिशा बदल देते हैं। अगर नेहरू के प्रति गाँधी जी का धृतराष्ट्री मोह न होता, तो शायद देश विभाजन की विभीषिका से बच जाता, जिसमें दस-पन्द्रह लाख जीवन होम हो गए। यह कैसी विडम्बना है कि जिसे ‘राष्ट्रपिता’ कहा जाता था, उसकी दृष्टि में नेहरू-प्रेम राष्ट्र-प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण था।

उज्बेक-भारतीय सांसातिक सम्बन्ध : एक दृष्टि

अनसारुद्दीन इब्राहीमोव*

उज्बेक-भारतीय साहित्यिक सम्बन्धों का इतिहास कम से कम एक हजार वर्ष पुराना है। भारत के रामायण, महाभारत, मेघदूत, रघुवंश, पंचतन्त्र, हितोपदेश, शकुन्तला आदि ऐसी कृतियाँ हैं जो विश्व में प्रसिद्ध हैं। मध्य-एशिया और भारत के लोगों ने एक दूसरे को करीब से जानने की, एक दूसरे की परम्पराओं को सीखने की कोशिश की है। खुसरो देहलवी और अब्दुल कादिर बेदिल की जड़ें उज्बेक भूमि से सम्बन्धित हैं; वे भारत में रहे और अपनी रचनाएँ भारत ही में लिखीं। भारत की अनमोल संस्कृति से, साहित्यिक परम्पराओं को उज्बेक लोग सदियों से बहरामन्द होते आए हैं। ऐसी अमर रचनाओं में से एक है ‘कलीला और दीमना’।

आठवीं सदी में ‘पंचतन्त्र’ का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ और वह ‘कलीला और दीमना’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विश्व की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद इसी से किया गया है। महान उज्बेक विद्वान, अल-बेरूनी जिनकी ‘भारत’ नामक रचना संसार-भर में प्रसिद्ध है और जिनको संसार का पहला भारतविद् माना जाता है, जब भारत आए तो वे ‘पंचतन्त्र’ तथा ‘कलीला और दीमना’ की तुलना कर सके। तुलना करने पर पता चला कि उनमें काफी भेद है। इसलिए ‘पंचतन्त्र’ का वह अरबी अनुवाद अल-बेरूनी को पसन्द नहीं आया। उनकी इच्छा थी कि वे ‘पंचतन्त्र’ का अरबी भाषा में अनुवाद स्वयं करें; परन्तु यह आज तक पता नहीं चल सका कि उन्होंने यह काम पूरा किया या नहीं। ‘कलीला और दीमना’ के दूसरे नाम भी हैं अन्वर-ए-सुहैली, ‘अय्यार-ए-दानिश’।

यह बताना आवश्यक है कि ताशकन्द में अल-बेरूनी रिसर्च इंस्टीट्यूट में इस भारतीय मूल रचना की बहुत सारी कापियाँ सुरक्षित हैं। वे फारसी और उज्बेकी भाषाओं में हैं। यह उस बात का प्रमाण है कि भारतीय मूल रचना उज्बेक लोगों में कितना प्रसिद्ध थी।

* डॉ. अनसारुद्दीन इब्राहीमोव, पी.एच.डी. ताशकन्द प्राच्य विद्या संस्थानताशकन्द, उज्बेकिस्तान के दक्षिण एशिया भाषा विभाग में वरिष्ठ शिक्षक हैं।

न केवल पुराने जमाने में, बल्कि अब भी यह पुस्तक उज्बेकिस्तान में मशहूर है। 'पंचतन्त्र' के आधार पर बनी या उससे मिलती-जुलती एक और पुस्तक 'हितोपदेश' है। भारतीय साहित्य के ये तीनों अनमोल रत्नों का उज्बेकी भाषा में अनुवाद हो चुका है 'कलीला और दीमना' का डॉ. सुयुमा गनीयेवा ने; 'पंचतन्त्र' का डॉ. इब्राहीम गफ़ूरोव और 'हितोपदेश' का मैंने अनुवाद किया है। 'कलीला और दीमना' कई बार प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें से एक 150.000 (डेढ़ लाख) की संख्या में छपी है। यह कहा जा सकता है कि उज्बेकिस्तान में शायद ही कोई ऐसा घर मिले जहाँ ये पुस्तकें न हों। उज्बेक लोगों को भारतीय संस्कृति और साहित्य अत्यन्त पसन्द हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपनी रचना 'हिन्दुस्तान की कहानी' में हमारे महान हमवतन जहीरूद्दीन मुहम्मद बाबर के बारे में लिखा था, "बाबर की शख्सियत दिलकश है; वह नई जागृति की ठीक-ठीक नुमाइंदगी करनेवाला शहजादा है जो साहसी और बहादुर है और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। इसके पोते अकबर में और भी आकर्षण है और गुणों में भी वह उससे कहीं बढ़कर है" (पृ. 350)।

बाबर की सबसे प्रसिद्ध कृति 'बाबरनामा' है। बहुत लोग जानते हैं कि उसकी एक तिहाई भारत पर आधारित है। उसमें भारत का इतिहास, भूगोल, नगरों, लोगों, फलों-फूलों, पेड़ों आदि के बारे में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। बाबर ने कहा था कि हिन्दुस्तान एक बहुत ही बढ़िया मुल्क है।

भारत में 'बाबरनामा' का विभिन्न संस्करण छपते रहे हैं; विशेषकर अनेट बेवेरिज का अंग्रेजी अनुवाद। 'बाबरनामा' का हिन्दी में भी अनुवाद हो चुका है और उसका अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान, जोधपुर विश्वविद्यालय के तुलनात्मक साहित्य विभाग के प्रोफेसर युगजीत नवलपुरी ने किया है। वह सन् 1974 में साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित हुआ था।

'बाबरनामा' के हिन्दी अनुवाद के बाद इसका मराठी और सिन्धी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। इस रचना को सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना गया है।

रूसी वर्णमाला पर आधारित आधुनिक उज्बेकी लिपि में 'बाबरनामा' का पहला साइंटिफिक संस्करण सन् 1960 में छपा था। इस संस्करण के छपने से 'बाबरनामा' पर शोध कार्य काफी बढ़ गया। उसका आलोचनात्मक पाठ (Critical Text) जापानी विद्वान ए. मानो ने तैयार किया है (सन् 1996; क्योटो)। इन बातों को सामने रखकर 'बाबरनामा' का नया वैज्ञानिक संस्करण तैयार किया गया जो सन् 2002 में प्रकाशित हुआ। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि 'बाबरनामा' के उक्त संस्करण को तैयार करने में उसके हिन्दी अनुवाद से भी लाभ उठाया गया।

इस नए संस्करण में काफी परिवर्तन किए गए। इसके लगभग 600 (छ: सौ) स्थानों पर गलतियाँ दूर की गईं, टिप्पणियों एवं निर्देशिकाओं की संख्या भी बढ़ा दी

गई। दो परिशिष्ट भी शामिल किए गए। इसके साथ-साथ 'बाबरनामा' पर आधारित 32 रंगीन तस्वीरें भी दी गईं।

भारत में बाबर से, उनकी औलाद, बाबरी (मुगलिया) सलतनत से सम्बन्धित पुस्तकें छपती रहती हैं। उदाहरण के लिए : खुरशीद मुस्तफा रिजवी की पुस्तक 'बाबर'; मुहीबुल हसन की 'बाबर' आदि इसके अलावा सन् 2002 में प्रसिद्ध उज्बेक लेखक पिरिमकुल कादिरोव का नावल 'बाबर' को गौरव प्रकाशन ने छपा है। हमारे शिक्षक प्रोफेसर कमर रईस की किताब उर्दू में छपी है जिसका नाम है : 'जहीरूद्दीन बाबर : शख्स, शख्सियत और शायरी'। इस किताब को तैयार करने में ताश्कन्द प्राच्य संस्थान (इंस्टिट्यूट) की डॉक्टर मुहय्या अब्दुरहमानोवा ने भी भाग लिया था। प्रसन्नता का विषय है कि हाल ही में इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

संक्षेप में यह कि हमारे दोनों देशों के बीच साहित्यिक सम्बन्धों की जड़ें पुरानी हैं; दृढ़ हैं। मेरे विचार से उनको और विस्तार देने और दृढ़ बनाने की काफी सम्भावनाएँ हैं।

21वीं सदी में भारत-बांग्लादेश सम्बन्धः चुनौतियाँ एवं सम्भावनायें

मनोज कुमार*

व्यक्तियों, समूहों अथवा राज्यों के परस्पर सम्पर्क में आने से संघर्ष और एकीकरण की प्रक्रियाएँ शुरू होती हैं, जो न केवल मानव स्वभाव अपितु उससे विस्तरित विश्वव्यापी राजनीति में भी समूची गतिविधियों का सार कही जा सकती हैं। इस रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षितिज को राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की सहायता से समझा जा सकता है। जिस प्रकार समाजशास्त्री पारिवारिक परिवेश को विश्लेषित करते हुए उसे सहज, मधुर, प्रभुत्वपरक व आश्रित तथा सहयोगी व संघर्षपरक बताते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राष्ट्रों के व्यवहार या तो सहयोगी होते हैं अथवा संघर्षपरक। संघर्ष और सहयोग की यह क्रिया व प्रतिक्रिया ही अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को संचालित करती है।

राष्ट्रों के मध्य इस संघर्ष के अनेकानेक कारण हो सकते हैं, यथा-दो या दो से अधिक राज्यों के बीच सीमांकन सुनिश्चित न होना अथवा उनके मध्य यातायात के उद्देश्य से जल-उपयोग पर विवाद होना अथवा विकास के दृष्टिकोण से आर्थिक सुविधा और सहायता का असंतुलित प्रयोग होना अथवा विकसित देशों के द्वारा अविकसित और विकासशील देशों पर वास्तविक और आर्थिक प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करना अथवा शस्त्रों की स्पर्द्धा होने से अपनी सुरक्षा के लिये सक्रिय होना आदि। इन कारणों से सर्वप्रथम राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में अविश्वास और संदेह उत्पन्न होता है जो सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न करता है तथा तनाव की ही परिणति संघर्ष में होती है। “क्विन्सी राइट” ने युद्धों का अध्ययन करते हुए यह उल्लेख किया है कि गतपांच शताब्दियों में दो सौ अठत्तर से अधिक युद्ध और हजारों झड़पें हुई हैं। दूसरी ओर “डेविड सिंगर” ने विगत डेढ़ शताब्दी के इतिहास का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि प्रत्येक दशक में विश्व ने छः युद्धों की विभीषिका को झेला है।

कहना न होगा कि युद्ध, विध्वंस, विनाश और हत्या अमानवीयता के संवाहक

* शोध छात्र, एम.जे.पी. रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली।

होते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा आज यह हो गया है कि युद्ध के विनाश से त्रस्त मानवता को किस प्रकार शान्ति की ओर ले जाया जाये। अन्तर्राष्ट्रीय विश्व ने युद्धों के निराकरण की दिशा में कुछ उपाय व्यवहार के लिये प्रस्तावित किये हैं जिनमें तनाव की स्थिति को शिथिल करने के उद्देश्यसे कूटनीतिक स्तर पर पारस्परिक संवाद, मध्यस्थता, पंचाट, न्यायिक समझौते, आर्थिक परिवेष्टन आदि सम्मिलित हैं और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर क्षेत्रीय और विश्व संगठनों का निर्माण है, जो युद्ध के स्थान पर शान्ति और आर्थिक विकास के लिये प्रयत्नशील है। इसके बावजूद तनाव और युद्ध न हुए हों, ऐसा नहीं है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यह समस्या यथावत बनी हुई है कि तनाव को समाप्त करने की दिशा में राष्ट्रों को क्या प्रयास करने चाहियें? दो राष्ट्र, परस्पर विवाद के संवेदनशील मुद्दों पर किस प्रकार विचार करें जिससे सम्बन्धों की प्रगाढ़ता और मधुरता बनी रहे तथा विशेषकर दो पड़ोसी राष्ट्र युद्ध जैसे नकारात्मक उपायों का सहारा लेने से बचे रहें।

इसी दृष्टिकोण से तारतम्य रखते हुए भारत भी यही चाहता है कि भारत एवं पड़ोसी देशों के मध्य घृणा, वैमनस्य खत्म करके एक सौहार्दपूर्ण वातावरण तैयार किया जाये और वर्षों से विवादित मुद्दों को इसी शान्ति एवं सौहार्द के वातावरण में सुलझाया जाये जिससे इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय विशेषकर पश्चिमी हस्तक्षेप को रोका जा सके। भारत एवं बांग्लादेश सम्बन्ध भी बांग्लादेश के निर्माण समय से ही इसी दृष्टिकोण पर आधारित रहे हैं।

बांग्लादेश-भारत का निकटतम पड़ोसी राष्ट्र है और उसकी स्वतंत्रता में भारत की प्रमुख भूमिका रही है। परन्तु भारत तथा बांग्लादेश के सम्बन्धों में प्रायः उत्तार-चढ़ाव आते रहते हैं। बांग्लादेश के स्वतंत्र अस्तित्व के लिये जो संघर्ष हुआ उसमें सहानुभूति एवं समर्थन प्रदान करने की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के कारण भारत-बांग्लादेश के सम्बन्ध उच्च स्तरीय मैत्रीपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुए। भारत प्रथम ऐसा राष्ट्र था जिसने इस नवोदित राष्ट्र को मान्यता प्रदान की और तुरन्त राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये।

बांग्लादेश के उद्भव के समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विकसित ‘अमेरिकी-चीनी’ संबंधों ने भारत के समक्ष बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी थी। एक ओर पाकिस्तान, चीन और अमेरिका की साँठ-गाँठ से दक्षिण एशिया में शान्ति-संतुलन अस्त-व्यस्त हो रहा था तो दूसरी ओर पाकिस्तान के दो सम्भागों के बीच झगड़े का सीधा प्रभाव भारत पर आ पड़ा था। पूर्वी बंगाल/अब बांग्लादेश में पाकिस्तान की सैनिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप लाखों लोगों को अपना देश छोड़कर भारत में आना पड़ा। धीरे-धीरे शरणार्थियों की संख्या बढ़कर एक करोड़ हो गयी। संसार में इतनी बड़ी जनसंख्या का दूसरे देश में आगमन पहली घटना थी। इस विशाल जनसमुदाय के खान-पान,

रहन-सहन, और स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल का भार भारत पर था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात भारत की सुरक्षा, अखण्डता और सार्वभौमिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की थी। विश्व के अधिकांश देश इस प्रसंग पर तटस्थ थे क्योंकि वे इस आग की लपट से बहुत दूर थे। किन्तु पूर्वी बंगाल में जो कुछ भी घटित हो रहा था उसे देखते हुए भारत न तो तटस्थ द्रष्टा रह सकता था और न विरक्त ही। देश की संसद, अखबार, राजनीतिक दल और प्रबुद्धजन, सभी बांग्लादेश की जनता और उसके नेताओं को समर्थन देने की मांग कर रहे थे।

पाकिस्तान ने धीरे-धीरे पूर्वी बंगाल में अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ कर ली। पश्चिमी सीमान्त परपाकिस्तानी सेना के जमाव ने स्थिति को और भी विस्फोटक बना दिया। युद्ध भारत के दरवाजे पर दस्तक दे रहा था। निक्सन, माओ से मिलने जा रहे थे और भारत यह समझने लगा कि दो शक्तियों का यह मिलन भारत के लिये खतरनाक हो सकता है। जब 3 दिसम्बर 1971 को पाकिस्तान ने पठानकोट, अमृतसर, जोधपुर, आगरा और श्रीनगर पर बमबारी कर इस उपमहाद्वीप में युद्ध छेड़ दिया तो दो सप्ताह की घमासान लड़ाई के बाद बांग्लादेश की मुक्तिवाहिनी और भारतीय सेना के समक्ष पाकिस्तान को शस्त्र डालने पड़े। बांग्लादेश आजाद हुआ और शेख मुजीबुर्रहमान रिहा कर दिये गये।

संक्षेप में, बांग्लादेश के निर्माण में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बांग्लादेश का निर्माण भारत-पाक युद्ध के दौरान 16 दिसम्बर, 1971 को हुआ। भारत ही सबसे पहला देश है जिसने 16 दिसम्बर 1971 को बांग्लादेश को मान्यता दे दी। भारत की सेनाओं ने बांग्लादेश की मुक्तिवाहिनी से मिलकर 16 दिसम्बर 1971 को स्वतंत्र बांग्लादेश की स्थापना करायी।

भारत द्वारा न केवल बांग्लादेश की स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न किया गया वरन् वह नवोदित राज्य की सहायता एवं विकास के लिये भी प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रयत्नशील रहा। बांग्लादेश के नेतृत्व ने भी भारतीय सहायता की भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं भारत के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की।¹ दो वर्ष पहले हुए भारत-सोवियत संघ शान्ति सहयोग एवं मित्रता की तर्ज पर ही सन् 1972 में भारत-बांग्लादेश के मध्य पच्चीस वर्षीय मित्रता, शान्ति एवं सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर किये गये, इस संधि की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि दोनो राष्ट्र न केवल एक-दूसरे पर अनाक्रमण के लिए सहमत हुए, बल्कि दोनो में से किसी पर बाध्यआक्रमण या इसकी आशंका की स्थिति में तत्काल आपस में वार्ता कर प्रभावशाली कदम उठाने का भी निश्चय किया।² सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में भी दोनो राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई। दोनो देशों ने सीमा सम्बन्धी कुछ विवादो को भी शान्तिपूर्वक सुलझा लिया। स्वतंत्र बांग्लादेश के निर्माण के समय से लेकर 1975 तक भारत-बांग्लादेश के मध्य जो सम्बन्ध थे वे घनिष्ठ मित्रता के रहे साथ

ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दोनो देशों के दृष्टिकोणों और विचारों में काफी समानता रही। दोनो ही देश धर्मनिरपेक्षता, पंचशील और गुटनिरपेक्षता की नीति में विश्वास करते रहा। दोनो हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाये रखना चाहते थे। बांग्लादेश को मान्यता दिलाने में भारत की कूटनीति अत्याधिक सक्रिय रही। शेख मुजीब के कार्यकाल में भारत और बांग्लादेश के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिये कई समझौते किये गये।³

दोनों देशों के बीच मैत्री एवं सहयोग का अंकुर अभी पनप ही रहा था कि उनके मध्य कुछ ऐसे विवाद उत्पन्न हो गये जिनके कारण मधुर सम्बन्धों का अल्प अध्याय समाप्त हो गया और मैत्री एवं सहयोग रूपी अंकुर समय से पहले ही मुरझा गया। सन् 1975 में बांग्लादेश के जनक शेख मुजीबुर्रहमान की सैनिक अधिकारियों द्वारा हत्या कर दी गई। बांग्लादेश की नयी सैनिक सरकार का चीन एवं अमेरिका के प्रति झुकाव बढ़ा। पहले मुश्ताक अहमद और फिर 6 नवम्बर, 1976 को जस्टिस आबू सादात सयाम राष्ट्रपति बने। 30 जनवरी 1976 को मेजर जनरल जिया-उर-रहमान ने मुख्य मार्शल लॉ प्रशासक बनकर सत्ता पर अधिकार कर लिया।⁴ बांग्लादेश की नयी सैनिक सरकार का भारत के सम्बन्ध में दृष्टिकोण पूर्णतः बदल गया एवं पारस्परिक विश्वास एवं मैत्री का स्थान भ्रामक धारणाओं एवं आशंकाओं ने ले लिया। तभी से भारत-बांग्लादेश के सम्बन्ध कभी औपचारिक रूप से सामान्य तो कभी अन्तर्निहित तनाव एवं प्रतिबन्धों से आच्छादित रहे हैं।

गंगाजल के बंटवारे, फरक्का बांध का प्रश्न, चकमा शरणार्थियों की समस्या, तीन बीघा का प्रश्न तथा नवमूर द्वीप विवाद इस समय के ऐसे विवाद थे जिनके कारण दोनो देशों के बीच सम्बन्ध मधुर से तनावपूर्ण हो गये।

कलकत्ता बन्दरगाह को बन्द होने से बचाने के लिये भारत सरकार ने फरक्का बांध के निर्माण की योजना बनायी जिससे कि गंगा नदी का कुछ पानी इस तरफ मोड़कर इसे छिछला होने से रोका जा सके। बांग्लादेश का आरोप था कि इसके चलते बांग्लादेश में गंगा नदी का बहाव बहुत कम हो जाता है जिससे उसकी अर्थव्यवस्था गम्भीर रूप से प्रभावित होती है। बांग्लादेश ने इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय रंग देने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप समस्या के समाधान के बजाय यह और अधिक जटिल हो गयी। भारत का मानना था कि इस विवाद को आपसी बातचीत द्वारा ही हल किया जाना चाहिये। इस समस्या के शान्तिपूर्वक समाधान के लिये दोनो राष्ट्रों ने बातचीत प्रारम्भ की और अंततः सन् 1977 में समझौता, 1982 में राष्ट्रपति जनरल इरशाद द्वारा इस समझौते को रद्द करने के उपरान्त हुए सन् 1985 एवं 1986 के अन्तरिम समझौते भी इस विवाद का कोई उभयपक्षग्राही हल नहीं निकाल पाये। अन्ततः 1988 में सभी समझौते रद्द कर दिये गये और तब से अन्तरिम व्यवस्था के अन्तर्गत भारत द्वारा बांग्लादेश को

पानी दिया जा रहा है।⁵

भारत-बांग्लादेश में मनमुटाव का एक मुद्दा चकमा शरणार्थियों की समस्या का है। भारत में एक अनुमान के अनुसार पचास हजार से अधिक चकमा शरणार्थी हैं जो त्रिपुरा, असम एवं अन्य सीमावर्ती प्रान्तों में आकर बस गये हैं। बड़ी संख्या में बांग्लादेश से आये शरणार्थियों के भारत में प्रवेश ने इसके सीमावर्ती प्रान्तों के लिये गम्भीर आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्या खड़ी कर दी है। चिन्ता की बात यह है कि बांग्लादेशी नागरिक अवैध रूप से भारत में प्रवेश करने के बाद देश के वैध नागरिक का दर्जा भी प्राप्त करते चले आ रहे हैं। उनके पास राशन कार्ड भी हैं और मत देने का अधिकार भी। वस्तुतः पश्चिम बंगाल और असम में बांग्लादेशी घुसपैठिये दर्जनों विधानसभा क्षेत्रों का चुनाव परिणाम तय करने में समर्थ हो गये हैं।⁶

पिछले दिनों सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र एवं चार राज्य सरकारों से देश में अवैध रूप से रह रहे बांग्लादेशियों की पहचान करने एवं उनकी घुसपैठ को रोकने के लिये उठाये गये कदमों के संदर्भ में जो जबाब मांगा है,⁷ उससे समस्या की विकरालता का पता चलता है। स्थिति कितनी गम्भीर है, इसे इस बात से समझा जा सकता है कि पिछले एक दशक में नागालैंड में बांग्लादेशी घुसपैठियों की संख्या तीन गुना बढ़ गयी है। अब यह कोई गोपनीय बात नहीं है कि बांग्लादेश सरकार अपने नागरिकों को भारत में घुसपैठ करने के लिये प्रोत्साहित करने में लगी हुई है।

पश्चिमी बंगाल के कूच बिहार जिले में तीन बीघा क्षेत्र (178 ग 85 मी0) एक गलियारा है जिससे दोनो देशों के आपसी सम्बन्धों में तनाव बढ़े। हालांकि सन् 1974 में एक समझौते के बाद उक्त गलियारे को बांग्लादेश को सौंपने की बात की गई थी। परन्तु एक लम्बे काल तक इस समझौते को मूर्त रूप नहीं दिया जा सका। 1982 में राष्ट्रपति जनरल इरशाद के द्वारा दोनो राष्ट्रों के बीच एक अन्य समझौते के अन्तर्गत इस गलियारे पर भारत की सम्प्रभुता रहेगी परन्तु भारत, बांग्लादेश से जो एक टका किराये के रूप में लेता था उसे समाप्त कर दिया।⁸ परन्तु दोनो देशों में आज भी असामंजस्य विद्यमान है। बंगाल की खाड़ीमें एक छोटे से टापू “मूरे” पर अधिपत्य को लेकर भी दोनो राष्ट्रों में मतभेद विद्यमान रहा है जिसके कारण आज भी यह विवाद भारत-बांग्लादेश की नीतियों को प्रभावित कर रहा है।

गत वर्षों में बाबरी मस्जिद के विध्वंस तथा इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बांग्लादेश में अनेक मन्दिरों को क्षति पहुँचायी गयी। लम्बे अरसे से बांग्लादेशकी धरती का, पाकिस्तान भारत के विरुद्ध प्रयोग करता आ रहा है। हाल में पाकिस्तान ने बांग्लादेश के साथ जिस तरह के रक्षा सम्बन्ध विकसित करने की कोशिश की है, उसे लेकर भारतीय सामरिक पर्यवेक्षक चिन्ता व्यक्त कर रहे हैं। पाकिस्तानी आई.एस.आई. ने बांग्लादेश में कट्टरपंथी मुस्लिम संगठनों को धन व हथियारों की मदद देकर भारत के खिलाफ खासकर उत्तर-पूर्वी राज्यों में हिंसा फैलाने का षडयंत्र लम्बे अरसे से

चलाया हुआ है। हाल में इसमें अभूतपूर्व तेजी देखी गई है। पूर्वोत्तर भारत का शायद ही कोई ऐसा अलगाववादी संगठन होगा जो बांग्लादेश में सक्रिय न हो।⁹ इस सीमाका उपयोग आईएसआई द्वारा अब जम्मू-कश्मीर में भी अपने आतंकवादी तत्वों को भेजने के लिये किया जा रहा है। उन्हें पाकिस्तान में छपे नकली भारतीय नोट भी दिये जाते हैं। जम्मू-कश्मीर के जेहादी संगठनों “हरकत-उल-मुजाहिदीन”, हरकत-उल-जेहाद ए इस्लामी” और ‘लश्कर ए तैबा’ ने बांग्लादेश में अपने सम्पर्क कार्यालय खोल रखे हैं जिन्हें बांग्लादेशी कट्टरपंथी संगठनों जैसे इस्लामी छात्र शिविर, इस्लामी ओकिया जोत, इमाम परिषद, इस्लामी सशस्त्र आन्दोलन तथा बांग्लादेश खिलाफत मजलिस आदि संगठनों का समर्थन प्राप्त है। जमात की छात्र शाखा आईसीएस ने तो ढाका में ही हाल में कई बम विस्फोट करवाये। वे तालिबान की तर्ज पर बांग्लादेश को ढालने का इरादा रखते हैं, इसलिये उनका नारा है ‘आमरा सुबोई होबो तालिबान, बांग्ला होबे अफगानिस्तान।’¹⁰

पिछले दिनों भारत-बांग्लादेश सीमा सुरक्षा बल के द्विवार्षिक सम्मेलन में बांग्लादेश राइफल्स के प्रमुख ने अपने यहाँ उग्रवादी शिविर होने से इन्कार करते हुए उल्टे जिस तरह भारत में बांग्लादेश विरोधी उग्रवादी शिविर होने का पहली बार आरोप लगाया है वह आपत्तिजनक होने के साथ-साथ बांग्लादेश के दुराग्रह का भी प्रमाण है। बांग्लादेश इस तरह का आरोप लगाकर भारत की शिकायत की धार को कम करना चाहता है क्योंकि भारत बार-बार बांग्लादेश को उग्रवाद के खिलाफ कार्यवाही के लिये कहता रहा है। भारत ने जो ताजा सूची बांग्लादेश को सौंपी है उसमें वहाँ उल्फा के सत्ताइस, एनडीएफबी के अठ्ठारह, एनएलएफटी के तैतालिस शिविरों का सिर्फ जिक्र ही नहीं है बल्कि इसका भी उल्लेख है कि चटगाँव, मैमनसिंह, कॉक्स बाजार, मौलवी बाजार, टांगाइल, खागराचर, बांदरबन, रांगामाटी आदि इलाके में किस प्रकार भारत विरोधी अभियान फल-फूल रहा है।¹¹

विचारणीय प्रश्न यह है कि भारत द्वारा व्यापक सहायता कार्यक्रमों के बावजूद बांग्लादेश का रवैया शत्रुतापूर्ण क्यों है ? इसमें संदेह है कि बस मित्रता और साफ्टा पर सहमति के बाद बिमस्टेक की दोनो देशों की सदस्यता उभयपक्षीय सम्बन्धों में प्रगाढ़ता ला पायेगी।

वास्तव में बांग्लादेश इस मानसिकता से पीड़ित होने का दिखावा करता है कि वह एक बड़े देश का छोटा पड़ोसी है। इसी सोच के कारण बांग्लादेश क्षेत्रीय सम्बन्धों पर बल देता है जिससे क्षेत्र में महाशक्तियों को हस्तक्षेप का अवसर मिलता है। एक असंलग्न राष्ट्र होते हुए भी बांग्लादेश पश्चिम की ओर अधिक झुका हुआ है। सीमा पर भारत द्वारा कंटीले तार लगाने एवं नदियों को आपस में जोड़ने जैसे आन्तरिक मुद्दों पर भी बांग्लादेश जिस तरह विरोध कर रहा है वह बांग्लादेश की नकारात्मक कूटनीति का ही परिचायक है। जबकि होना तो यह चाहिये कि दक्षेस

घोषणा पत्र का सम्मान करते हुए ढाका दुराग्रह के बजाय, भूटान की तरह अपने यहाँ शरण लिये हुए भारत-विरोधी उग्रवादियों के खिलाफ कार्यवाही शुरू करे।¹² वस्तुतः भले ही कूटनीतिक स्तर पर भारत और बांग्लादेश के रिश्ते मैत्री के दायरे में आते हों, लेकिन बांग्लादेश का व्यवहार मित्रवत राष्ट्र सरीखा बिल्कुल ही नहीं है। बांग्लादेश के द्वारा सेंट मार्टिन द्वीप अमेरिका को नौसैनिक अड्डा बनाने हेतु सौंपने एवं चीन एवं पाकिस्तान द्वारा बांग्लादेश को सैनिक मदद देनेसे उस देश की स्थिति संदेहास्पद बनी हुई है।

वर्तमान समय में भारत विरोधी गतिविधियों के लिये बांग्लादेश की जमीन का प्रयोग, बांग्लादेश में पाकिस्तान समर्थक प्रधानमंत्री बेगम खलिदा जिया वाली बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी द्वारा आईएसआई को दिया जा रहा प्रोत्साहन¹³, पश्चिमी बंगाल और पूर्वोत्तर राज्यों खासकर असम में बांग्लादेशी नागरिकों की लगातार घुसपैठ, उग्रवादी संगठन उल्फा द्वारा बांग्लादेश स्थित आईएसआई से हथियार एवं गोलाबारूद प्राप्त करना¹⁴, हाल ही में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा देश की राजधानी में रह रहे लाखों बांग्लादेशियों को निकाल बाहर करने के लिये योजना बनाने का दिल्ली सरकार को आदेश¹⁵ तथा पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य की केन्द्र सरकार से अवैध आब्रजन के विरुद्ध सहायता की गुहार ने भारत-बांग्लादेश सम्बन्धों में खासी खटास पैदा कर दी है जिससे विद्यमान आक्रमक इस्लामी राजनीति के उभार वाले वर्तमान माहौल में भारत-बांग्लादेश सम्बन्धों को बढ़ावा देने वाला कोई भी प्रभावी कदम उठाना उभयपक्षों के लिये एक दुष्कर कार्य है।

समस्याओं के निराकरण में युद्ध की अप्रासंगिकता और परिवर्तित होते हुए अन्तर्राष्ट्रीय माहौल में दोनों ही देशों के लिये यह उचित होगा कि वे अपने तनाव के मुद्दों का समाधान शान्तिपूर्ण माध्यमों से करें और इस परिपेक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में उद्घोषित उन माध्यमों को अपनायें, जिनके प्रति दोनों ही देश प्रतिबद्ध हैं।

सन्दर्भ

1. बंगबन्धु स्पीचेज - मिनिस्ट्री आफ फॉरेन अफेयर्स, गर्वनमेंट ऑफ बांग्लादेश, ढाका।
2. द हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 20 मार्च, 1972।
3. बांग्लादेश डॉक्यूमेन्ट : मिनिस्ट्री ऑफ एक्सटर्नल अफेयर्स, गर्वनमेंट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली 1971।
4. अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता, 31 जनवरी, 1976।
5. टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 18 सितम्बर, 1988।
6. दैनिक जागरण, नई दिल्ली, 8 अक्टूबर 2002।
7. दैनिक जागरण, नई दिल्ली, 14 फरवरी 2004।

8. टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 7 मई 1990।
9. अमर उजाला, मुरादाबाद, 9 अगस्त, 2004।
10. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 30 सितम्बर 2003।
11. अमर उजाला, मुरादाबाद, 8 जनवरी 2004।
12. राजनाथ सिंह "किसकी नियत कितनी साफ", अमर उजाला, 5 फरवरी, 2004।
13. नव भारत टाइम्स, नई दिल्ली, 30 सितम्बर 2003।
14. दैनिक जागरण, नई दिल्ली, 8 अक्टूबर 2002।
15. राजनाथ सिंह, "हम अवैध नागरिकों को क्यों गले लगाते हैं," अमर उजाला, 16 अक्टूबर 2003।

Dialogue

Quarterly English Journal of

Astha Bharati, Delhi

**21th issue already published
Published Special Numbers:**

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia
Fiscal Mismanagement in North East India
Maoist Insurgency in Nepal and India
India: Security Dimensions,
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and
Lakshadwip
South-East Asia
Secularism: India in Labyrinth
India's Neighbourhood
Governance in the North-East
Policing in India

Forthcoming Issues:

India: Population Growth, Planning and the Problems
Islam in India
Jammu, Kashmir and Laddakh

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिंतन-सृजन' के कुछ अंक देखने को मिले हैं। ताजा अंक भी मिला है। इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शोधपरक हैं। इन्हें किसी एक विचारधारा से जोड़ कर खारिज नहीं किया जा सकता। ऐसे लेखों का प्रकाशन जरूरी है क्योंकि ये उस हीनता बोध पर चोट करते हैं जिसके समाप्त हुए बिना भारत अपने पैर पर खड़ा नहीं हो सकता। इस देश के तथाकथित बुद्धिजीवी दिमागी तौर पर इतने गुलाम, कायर और पंगु हो चुके हैं कि वे सच कह ही नहीं सकते। स्वाधीनता और साहस मनुष्य के उच्चतर मूल्य हैं, जिन्हें रेखांकित होने चाहिए!

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, सम्पादक, दस्तावेज, गोरखपुर

चिंतन-सृजन का अप्रैल-जून 2004 का अंक चार प्राप्त हुआ। आप इस चिंतनशील पत्रिका के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं। पिछले अंकों की भाँति यह अंक भी साफ सुथरा और सुरुचिपूर्ण है। अज्ञेय की कविता के उद्धरण के साथ लिखा आपका संपादकीय समीचीन है। निर्मल वर्मा का आलेख बड़ा ही विचारोत्तेजक है। राज थापर की पुस्तक 'ऑल दीज ईयर्स' पर शंकर शरण का समीक्षात्मक लेख सूचनाप्रद और अभिव्यक्ति की दृष्टि से सशक्त है। आजीवन कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ी रहीं राज थापर द्वारा अपनी पार्टी के अत्यन्त गोपनीय निर्णयों के विषय में इस पुस्तक में किए गए रहस्योद्घाटन अद्भुत हैं। 22 फरवरी 1949 को पूरे भारत में हथियार बंद लड़ाई के जरिए राजसत्ता पर कब्जा कर लेने की विस्फोटक साजिश राज थापर के संस्मरणों में से एक है। मदन मोहन तरुण, नंद किशोर पांडेय, नरेश और सरोज कुमार वर्मा के लेख अपने विषय का सम्यक प्रतिवादन करते हैं। प्रणव कुमार का लेख आवश्यक संदर्भों के साथ अत्यन्त सूचनाप्रद है। अतीत के युद्धों और मारकाट को आज दुहराते हुए सजग रहने की आवश्यकता है। कहीं ऐसे दृष्टांत विभिन्न समुदायों के बीच विद्वेष को और बढ़ावा तो नहीं देते हैं। परमाणु बम का नरसंहार झेलने के बाद भी आज जापान अमेरिका का सबसे करीबी दोस्त और दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी ताकत है। आप के लेख में इतिहास और जातिगत गतिशीलता के दृष्टांतों से अनेक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाए गए हैं। आपका संपादकीय भी इतिहास और विद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों पर उठे विवाद की ओर इंगित करता है। आपका मंतव्य बिलकुल सही है कि शिक्षा से जुड़े इन सवालों पर क्षुद्र दलगत राजनीति की दृष्टि से विचार

बच्चों के भविष्य के लिए घातक है। मैं संकोच के साथ निवेदन करना चाहूँगा कि चार दशक से कुछ ही कम विश्वविद्यालयों में अध्यापन के पहले पायदान से लेकर उसके उच्चतम प्रशासकीय, अकादमीय पदों के अनुभव, आई. सी. एस. एस. आर. की सदस्यता, पश्चिमी बंगाल के विश्वविद्यालयों की चयन समितियों में चांसलर/राज्यपाल/ तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में विजिटर/महामहिम राष्ट्रपति द्वारा नामित समाज विज्ञानों की चयन समिति, यू. जी. सी. और एन. सी. इ. आर. टी. की समितियों की सदस्यता के दौरान इन विद्या केन्द्रों के विभिन्न राजनीतिक रंगोंवाले कथित शिक्षाविदों के दावपेंच को मैंने अन्दर से देखा है। इतिहास की तुलना में समाजशास्त्र से जुड़े सवाल कम संवेदनशील नहीं हैं। एन. सी. इ. आर. टी. की +2 स्तर की एक पुस्तक मेरे द्वारा लिखी गई हैं। सन् 1988-89 से लेकर करीब 14 वर्ष तक वह पाठ्य पुस्तक के रूप में प्रयुक्त हुई। अब यह पाठ्यक्रम से हटा दी गई है तो इससे मेरे मन में कोई कलह अथवा तनाव नहीं है। पिछले अंक में प्रकाशित मेरे लेख 'भक्ति आन्दोलन : समाजशास्त्रीय विवेचन' पर जो व्यापक सकारात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त हुई है, उसके लिए मैं विद्वत जनों तथा पाठकों के प्रति आन्तरिक आभार व्यक्त करता हूँ। शत्रुघ्न प्रसाद ने कई बातों की चर्चा की है। ध्यान से पढ़ने पर उनका समाधान मेरे लेख में सन्निहित है। इस अंक में प्रकाशित आपके लेख से भी अनेक शंकाओं का समाधान हो जाता है। उदात्त भारतीय परम्परा से कटे विश्व हिन्दू परिषद के रणबाकुड़ों और मुरली मनोहर जोशी को यदि किशोर मानसिकता से खिलवाड़ करने का अधिकार नहीं था तो प्रगतिशीलता का चोंगा ओढ़े लोगों, राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके बाद के अनुभवों से आँख मूँदें अर्जुन सिंह को भी यह अधिकार नहीं है। पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकों के लेखन का काम तटस्थ, वस्तुपरक विशेषज्ञों और सर्वमान्य शिक्षाविदों के जिम्मे छोड़ देना चाहिए। शैक्षणिक वातावरण तब प्रदूषित होता है जब राजनीतिक कारणों से भूगोल अथवा भाषा का शिक्षक इंजीनीयरिंग कॉलेज का प्रिंसिपल बना दिया जाए, बिल्डिंग बनाने की जिम्मेदारी वाला आदमी प्रोफेसर और वाइसचांसलर हो जाए, मीडिया से दूर का भी रिश्ता न होने पर कोई संयोजक बनकर दूरदर्शन की पॉलिसी तय करने लगे, इतिहास का कोई अध्यापक अथवा नेता विज्ञान की सर्वोच्च शोध परिषद् में बैठकर नीति निर्धारण का जिम्मा ले ले। नेहरू जैसे उदार प्रधानमंत्री ने जिन्हें अविश्वसनीय और राज्य विरोधी गतिविधियों में लिप्त पाया था, वे आज उनकी नीतियों के स्वघोषित संरक्षक-विशेषज्ञ बन जाएँ और अयोध्या के मलवे से झोले में ईंट लानेवाले हमारी संस्कृति का निर्धारण करने लगे। ऐसी थोपी विशेषज्ञता के दुष्परिणाम अवश्यंभावी हैं। ऐसे लोगों के कार्यकलापों के पीछे कोई स्वस्थ, समाज और राष्ट्र के लिए हितकारी विचारधारा नहीं बल्कि शुद्ध जुगाड़वाद काम करता है।

(प्रो.) सत्यमित्र दुबे, नोएडा

चिन्तन-सृजन का अंक-3 (जनवरी-मार्च 2004) मिला है। बहुत-बहुत धन्यवाद। आस्था भारती ने इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया है, यह प्रसन्नता का विषय है।

अनास्था और पाखण्ड के इस युग में जब कहीं कोई आस्था की बात करता है, तो अच्छा लगता है। पर मुझे आशा की किरण नहीं दिखाई देती प्रजातंत्र अपराधतंत्र में बदल गया है, जिन्हें राष्ट्रीय एकता बनाए रखने का दायित्व सौंपा गया है वे ही व्यक्तिगत स्वार्थ से ग्रस्त होकर धर्म, क्षेत्र जाति (उपजाति तक), मतवाद आदि के नाम पर राष्ट्र को खण्ड-खण्ड करने पर तुले हैं। मुझे तो लगता है, पूरी व्यवस्था चिन्तकों के हाथ से छूट गई है ऐसे में हम क्या कह सकते हैं? मुझे स्वामी विवेकानन्द स्मरण आते हैं, यह दुनिया तो कुते की दुम है जिसे हर युग में महापुरुष सीधी कर जाते हैं, पर फिर टेढ़ी हो जाती है। आस्था भारती और इस तरह की संस्थाएँ और उनसे जुड़े लोग उसे सीधी करने की कोशिश में लगे हुए हैं, यही बड़ी बात है। मुझे भी अपने साथ समझें।

चिन्तन-सृजन का स्वागत करता हूँ। कुछ लेख पढ़े, अच्छे लगे। मैं इधर सब छोड़कर व्यंग्य लिख रहा हूँ, यह जानते हुए कि इसका कहीं कोई असर नहीं होनेवाला है, “कुछ बड़े लोग हैं/जो करिश्मे दिखाते हैं। / हम हैं कि व्यंग्य करते हैं, / कार्टून बनाते हैं। / अपना आक्रोश हम आपस में बाँटते हैं। / गैडे की देह में चिकोटी काटते हैं।”

प्राप्ति सूचना देने बैठा था, लेख ही लिखने लग गया। क्षमा करेंगे।

प्रो. सिद्धनाथ कुमार, राँची

‘चिन्तन-सृजन’ वर्ष 1, अंक-4 यथा समय मिला गया है। अंक के आलेख पढ़ गया हूँ। चिन्तन-सृजननाम के अनुरूप आलेख हैं। अंक में समसामयिक ऐतिहासिक चिन्तन है। विशेष रूप से डॉ. शंकर शरण का आलेख ‘बीते वर्षों की कहानी’, ‘इतिहास के सहयात्री’ (प्रो. मदनमोहन तरुण), वैचारिक उपनिवेशवाद और हमारी सोच (आपका आलेख) और ‘पूर्वाग्रह-विहीन इतिहास दृष्टि, (प्रणव कुमार) सभी अच्छे लगे। समसामयिक बदलती हुई विचार धारा है। राजनीति में इतिहास की अवधारणाएँ बदलती हैं। राजनीति समसामयिक इतिहास को अपने विचारों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करती रहती है। ऐतिहासिक व्यक्तियों की छवियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। अंग्रेज चले गए किन्तु उनकी इतिहास-दृष्टि नहीं गई। हमारे देश के इतिहास पर जो आवरण पड़े हुए हैं, उनको हटाने के प्रयत्न नहीं हुए हैं। आज भी हमारे देश के चिन्तक जो लिखते हैं, उनकी उपेक्षा होती है। हमारी अपनी भाषाओं का लेखन सम्मानित नहीं होता। वैचारिक उपनिवेशवाद आज भी कायम है। और यह सब

इसलिए भी हो रहा है कि अंग्रेजी भाषा आज भी दृढ़ रूप में आसन जमाए हुई है। भाषा के साथ विचार-धारा और संस्कृति जुड़ी रहती है। भाषा यदि बदलती नहीं तो विचार धारा कैसे बदलेगी? चिन्तन-सृजन के माध्यम से आप तदर्थ प्रयत्नशील हैं, तदर्थ आपका अभिनन्दन करता हूँ। आस्था भारती नाम सार्थक हो, यही चाहता हूँ। आस्था-विहीन लेखन से बचना है और इतिहास पर पड़े हुए आवरणों को हटाना है।

डा. राजमल बोरा, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

चिन्तन-सृजन एक बहुत बड़ी कमी को दूर करने की ओर अग्रसर है। तीन अंकों में ही अनेक दुर्लभ पाठ्य-सामग्री हमें मिली। नवीनतम अंक में लेखों के अलावा कोहलीजी का पत्र भी बहुत ज्ञानवर्द्धक है। श्री लोकेश चन्द्र का निबन्ध भी सारगर्भित, विचारोत्तेजक है। श्री शत्रुघ्न प्रसाद जी ने ऐतिहासिक उपन्यासों के बारे में बताकर पाठकों का बड़ा उपकार किया है।

हमारे देश के वर्तमान परिदृश्य में अंग्रेजी वर्ग के अतिरिक्त अन्य, विशेषकर हिन्दी-भाषी, जनता की आशा-आकांक्षा की पूर्ति के लिए और कहीं से आशा नहीं दीखती। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में भी अंग्रेजी वर्ग द्वारा स्थिर बौद्धिक मानदण्डों के अनुरूप चलने की दास-वृत्ति बनी हुई है। यह मानदण्ड अपने राजनीतिक-वैचारिक सार, दिशा और लक्ष्य में प्रायः भारत-विरोधी व पश्चिमोन्मुख हैं। दुर्भाग्यवश इससे बड़ी संख्या में हिन्दी लेखक, पत्रकार आदि भी अनजान हैं। इस अज्ञान में उस संसरशिप से और वृद्धि हो रही है, जो उक्त बौद्धिक मानदण्डों ने अघोषित रूप से लगाया हुआ है।

बहुतेरे हिन्दी संपादक ऐसे लेख या विचार नहीं छापते जो तर्कपूर्ण और सामयिक होते हुए भी ‘उन’ मानदण्डों के अनुकूल नहीं। ऐसे संपादक नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। उन्हें भान नहीं कि जो सम्मान पाने या जिस अनिष्ट को टालने के लिए वे ऐसी संसरशिप स्वयं ओढ़े हुए हैं, उससे परिणाम बिलकुल उल्टे होते हैं। अंग्रेजी वर्ग अपनी लाइन पर चलने के कारण उन्हें सम्मानीय समझने के बदले अपना दीन अनुचर मानता है। और जिस सामंजस्य की आशा में वे संसरशिप चलाते हैं, वह उल्टे उन तत्वों को उद्वत, आक्रामक बनाती है जिनके बारे में सत्य-भाषण से संकोच किया जाता है।

ऐसी निराशाजनक परिस्थिति में ईश्वर से ही प्रार्थना है कि वह चिन्तन-सृजन रूपी दीए को प्रकाश-स्तंभ के रूप में स्थापित हो सकने का वरदान दें।

शंकर शरण, नई दिल्ली

‘चिन्तन-सृजन’ जनवरी-मार्च 2004 मिला। हमारे समक्ष प्रश्न उपस्थित है कि, “आखिर हमारा लेखक विदेशी मंडियों से लगातार बासी विचारों को आयातित क्यों

करता है।” यह प्रश्न हमारे चिन्तकों, रचनाकारों और साहित्यकारों के लिए विचारणीय है। और आपका यह निष्कर्ष कि, “भारतीय बदलाव के सूत्र विदेशी चिन्तन में खोजना उचित नहीं है।” भारतीय सर्जनात्मक सोचवालों के लिए हृदयंगम कर लेने लायक है। पत्रिका के सभी आलेख चिन्तनीय एवं संग्रहणीय हैं। एस. पी. राय के आलेख समय के स्वरूप को विस्तृत फलक पर रेखांकित करता है और नई जानकारी देता है। यशदेव शल्य, लोकेशचन्द्र, कुमार विमल, रमेशचन्द्र शाह, प्रणव कुमार आदि सभी विद्वानों के लेख गम्भीर चिन्तन का प्रतिफल हैं और पठनीय एवं संग्रहणीय हैं। भारत की आत्मा को पुनर्जागृत करने की दिशा में मिशेल डानिनो का शोधपूर्ण आलेख “भारतीय चिन्तन पर उपनिवेशन का प्रभाव” एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस प्रशंसनीय आलेख के लिए मेरी ओर से उन्हें बधाई दें। समग्रतः पत्रिका बड़ी मेहनत से निकल रही है। हिन्दी जगत आपको स्मरण रखेगा। आपको बधाई एवं शुभकामनाएँ।

डॉ. वरुण कुमार तिवारी, सुपौल, बिहार

चिन्तन-सृजन का अप्रैल-जून, 2004 ई. का अंक प्राप्त कर आन्तरिक प्रसन्नता हुई। बहिरन्तः सर्वथा स्वस्थ इस पत्रिका की अन्य हिन्दी-त्रैमासिकों में द्वितीयता नहीं है। इसका प्रत्येक अंक ग्रन्थकल्प होता है और अक्षरशः एवं शब्दशः अधीती संपादक की संपादन-मनीषा के श्रम दीप्त दर्शन होते हैं। मुद्रण का स्वलन तो बहुत ढूँढ़ने पर भी कदाचित् ही मिले। आज आचार्य शिवपूजन सहाय बरकरार रहते तो वह इस पत्रिका की सर्वशुद्ध कलावरेण्यता देखकर प्रसन्नता से पुलकित हो उठते। सचमुच, यह पत्रिका हिन्दी की गौरववर्धिनी है।

पत्रिका के इस अंक में विनिवेशित प्रत्येक सामग्री सार्थक है। वह कहीं से भी निर्मूल नहीं है और न ही अनपेक्षित है। इस अंक का रूप जितना विमोहक है, विषयगत व्यक्तित्व उतना ही प्रभावकारी। नव्य चिन्तन में वैचारिक ऊष्मा इस अंक की अपनी विशिष्टता है।

इतिहास और साहित्य, या कि साहित्येतिहास की दृष्टि से अतिशय महनीय ‘इतिहास के सहयात्री’ (प्रो. मदनमोहन तरुण) शीर्षक आलेख ने मुझे अधिक आवर्जित किया है; क्योंकि इसमें वर्णित कई प्रसंगों से मैं भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से संपृक्त हूँ। पुण्यश्लोक पं. गिरीन्द्रमोहन मिश्र जी मैथिली साहित्य के पुरोध पुरुष थे। उनके द्वारा लिखित ‘किछु देखलः किछु सुनल’ संस्मरण-विद्या की ऐसी आदर्श कृति है, जिस पर स्वतन्त्र निबन्ध या प्रबन्ध अपेक्षित है।

इस आलेख के अधीती एवं प्रज्ञाप्रौढ़ लेखक प्रो. तरुण ने इसकी वर्ण्य वस्तु का विशद भाष्य प्रस्तुत किया है। प्रसंगवश ज्ञातव्य है, पं. गिरीन्द्रमोहन मिश्र जी के यशोधन पुत्र न्यायमूर्ति पं. गोविन्दमोहन मिश्र जी के मन में जीवन के अन्तिम काल तक यह आकांक्षा बनी रही कि ‘किछु देखलः किछु सुनल’ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत

हो। इस सन्दर्भ में उनका सन्देश भी मुझे प्राप्त हुआ था और मैंने तद्विषयक क्रियान्वित के लिए कुछ सुझाव भी निवेदित किए थे। परन्तु उनके असमय लोकान्तरित हो जाने से बात जहाँ की तहाँ रह गई। प्रो. तरुणजी के प्रति, उनकी हिन्दी और मैथिली की भाषिक क्षमता को देखते हुए, इस अनुवाद कार्य की सम्पन्नता की सहज ही मेरी आशा बँधती है।

इसी क्रम में महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा के प्रसंग में मनीषी लेखक ने ‘प्राच्यविद्यामहार्णव’ का उल्लेख किया है। वस्तुतः यह एक कोशग्रन्थ है, जो ‘अमरकोश’ के आधार पर महामहोपाध्यायजी द्वारा तैयार किया गया है और इसका सही नाम ‘वाङ्मयार्णव’ है और इसमें छह हजार आठ सौ से कुछ ही अधिक श्लोक हैं। अब यह महाकोश ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी से प्रकाशित है, जिसकी प्रेस कॉपी महामहोपाध्यायजी के सुधी सुपुत्र, हिन्दी समालोचना के स्तंभ पुरुष आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी ने मुझसे ही तैयार कराई थी। दुर्भाग्यवश, आचार्य नलिनजी अपने जीवन-काल में उस कोश को मुद्रित रूप में नहीं देख सके। महामहोपाध्यायजी का सर्वाधिक समादृत और चर्चित ग्रन्थ ‘परमार्थदर्शन’ है, जो मूल संस्कृत रूप में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रकाशित है। इसका भी हिन्दी अनुवाद अपेक्षित है।

ज्ञातव्य है, ‘मिथिला संस्कृत रिसर्च इंस्टीट्यूट’ से महामहोपाध्यायजी की कई पुस्तकें नहीं, केवल एक पुस्तक प्रकाशित है, जिसमें उनके संस्कृत में लिखित कतिपय श्रेष्ठ निबन्ध संकलित हैं। ‘प्राच्यविद्या-महार्णव’ उपाधिमूलक शब्द है, जो प्रसिद्ध हिन्दी विश्वकोश (जो एक दर्जन से भी अधिक खण्डों में है) के सम्पादक श्रीनगेन्द्रनाथ वसु को प्रदत्त है।

साहित्येतिहास के पाठकों में भ्रांति न फैले इसीलिए मैंने इस सन्दर्भ में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना अपना कर्तव्य मानकर यह धृष्टता की है।

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना, बिहार

‘चिन्तन-सृजन’ की सम्पादकीय टिप्पणियों की विशेषता रही है, उसकी विचारोत्तेजनक तेजस्विता जो मुख्यतः भारत की भारती की इयत्ता की अवहेलना की पीड़ा के निष्पन्न है। मदनमोहन तरुण, पुणे पूर्व, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भाषा संकाय, एल बी एस नेशनल एकेडेमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी एवं पूर्व वरिष्ठ अकादमिक अधिकारी, नेशनल डिफेन्स अकादमी, खडकवासला, पुणे।

आकर्षक आवरण वाली पत्रिका ‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून, 2004 अंक पहली बार देखा। अंक को अध्ययन किया तो यह जानकर और भी खुशी हुई कि पत्रिका को सुप्रसिद्ध लेखकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। पत्रिका में साहित्य के विभिन्न पक्षों सम्बन्धी मेहनत करके इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटाना आप के दीर्घ अनुभव का ही फल है। आप के समूचे सम्पादकीय मण्डल को एक अच्छी पत्रिका के सम्पादन के

लिए बधाई। **डॉ. दर्शन सिंह आशट, पंजाबी विश्वविद्यालय प्रेस, पटियाला (पंजाब)**

“चिन्तन-सृजन’ का चौथा अंक मिला। बहुत-बहुत धन्यवाद। यह अंक सब तरह से पठनीय और ज्ञानवर्द्धक है। विशेष रूप से नरेन्द्र कोहली का ‘द्युत’ और नन्द किशोर पाण्डेय का ‘भक्ति आन्दोलन और शंकर देव’ अच्छा लगा। भक्ति-आन्दोलन में पूर्वोत्तर के लोगों को कम देखा गया। इस क्षेत्र में डॉ. पाण्डेय का शोध सराहनीय एवं प्रशंसनीय है।” **डॉ. भानु प्रताप चौबे, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय बोमडिला, अरुणाचल प्रदेश।**

चिन्तन-सृजन पत्रिका पहली बार हाथ लगी। बहुत अच्छी पत्रिका लगी। जनवरी-मार्च, 2004 अंक पढ़ा। ‘हिन्दुत्व, सेकुलरवाद और राष्ट्रीय भावबोध’ लेख बहुत अच्छा लगा। ‘हिन्दुत्व’ और ‘हिन्दुत्व का अन्तर गहराई से स्पष्ट करता लेख एक स्पष्ट दृष्टि भी प्रदान करता है। वह हिन्दुत्व जो खास लोगों का बनकर रहा और जिसमें धर्म के अनुसार आचरण की अनुमति नहीं रही। और स्वाभाविक था कि उसे भारतीय जनमानस कभी हृदयंगम नहीं कर पाया। और एक वह धर्म जो हमेशा जन समूह को मुक्त करता रहा, उसके उत्साह को बराबर बढ़ाता रहा वह गांधी में हमें नजर आता है। जिसके केन्द्र में मनुष्य है न कि धर्म की जड़ मान्यताएं। उसको किसी से खतरा भी नहीं है। वह सम्पूर्ण मानव समाज के लिए है न कि खास जाति में पैदा होने वाले लोगों के लिए। पत्रिका अच्छी है आशा है आगे भी ज्ञानवर्धन कराती रहेगी।

कुलदीप, महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. लोकाशचन्द्रजी ने मुझे ‘चिन्तन-सृजन’ का अंक (वर्ष 1, अंक 3) भेजा तो मुझे आपके प्रशंसनीय उद्यम का पता चला। अब तक कुछ लेख ही पढ़े हैं जिनमें प्रणव कुमार जी द्वारा अनूदित मिशेल डानिनो का लेख और शंकर शरण जी का लेख गोर्वाचेव की गाथा जानकारी देने वाले तथा सोचने की प्रेरणा देने वाले लगे। डॉ. लोकाशचन्द्र जी का लेख तो सुन्दर है ही।

पाठकीय प्रतिक्रिया भी पढ़ी तो उनसे अधिक प्रथमांक के प्रति जिज्ञासा बढ़ी। यदि यह अंक अभी बचा हो तो क्या आप मुझे उसकी एक प्रति भेज सकेंगे? विशेष रुचि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली विषयक श्रीवास्तवजी के लेख में है। ‘नई पहल’ की जरूरत कब तक रहेगी। मुझे लगता है कि हम तैयारियां ही करते रहेंगे, सफर पर कभी निकल ही नहीं पाएंगे।

वैज्ञानिक शब्दावली अनिवार्यतः भारतीय समाज के लिए नई होने के कारण क्लिष्ट होगी ही विशेषतः जब कि हमारी रूचि घिसे-पिटे क्राइम या सड़े प्रेम सम्बंधों विषयक टी. वी. सीरियलों के अतिविक्रि और किसी में है ही नहीं। विज्ञान कोई पढ़ना

ही नहीं चाहता। अंग्रेजी के बोझ से वह बोझिल बना हुआ है। क्लिष्टता का हौवा हिन्दी को उस क्षेत्र में घुसने ही नहीं देता। नेतागिरी जिस-तिस की ठकुरसुहाती में तल्लीन है। हिन्दी की विज्ञान विषयक पुस्तकें जो भी हैं पुस्तकायलों में ला दो। पत्रिकाओं में हिन्दी लेख, अनूदित हो चाहे मौलिक, छपने दो, तो नई पहल की जरूरत स्वयं पूरी हो जायेगी।

आपकी पत्रिका जैसी अन्य पत्रिकाएं सरकारी क्षेत्रों में अनिवार्यतः खरीदी-पढ़ी जाए तो सभी क्षेत्रों में हिन्दी आएगी, मौलिक चिन्तन चलेगा, लेखन भी होने लगेगा। ‘नौ मन तेल’ की बात तो ‘सरकार’ करती रहेगी, कहती ही रहेगी?

आपका मार्ग मंगलमय, पत्रिका दीर्घायु होकर जनता को चेताती जगाती रहे, यही कामना है। **श्री बाबूराम वर्मा, देहरादून**

पत्रिका का वर्ष 1 अंक 3 व 4 मित्र डॉ. आनन्द मिश्रजी के माध्यम से उपलब्ध हुआ। पढ़ कर काफी सुखद व प्रेरक अनुभूति हुई। ‘शब्द के सौदागर’ शीर्षक से प्रस्तुत अंक तीन की सम्पादकीय जीवन में व्यवसायिकता (बुद्धि सापेक्ष जीवन दर्शन) के बदले दबाव का परिणाम है। लेखन के क्षेत्र में ऐसी प्रवृत्ति आक्षेपजन्य कौतूहल को जाग्रत करती है।

..... तृतीय अंक में डॉ. रमेशचन्द्र शाह में अपने समग्र चिन्तन से जिस आचार पक्ष पर प्रकाश डाला है, और चतुर्थ अंक में निर्मल वर्मा ने अपने ‘वर्तमान में भाषा व साहित्य की स्थिति’ शीर्षक में धर्म की गतिशीलता को एपिक काल में जिन अर्थों में अभिव्यक्त पाया है, डॉ. नरेन्द्र कोहली ने ‘द्युत’ नामक शीर्षक से प्रस्तुत अपने शोध परक लेख में धर्म के जिस आचार पक्ष को युधिष्ठिर व द्रोपदी के माध्यम से अर्थान्वित किया है, ऐसी ही विशिष्टतायें भारतीय धर्म व संस्कृति की पहचान रही है।

डॉ. सूर्य प्रकाश शुक्ल, वाराणसी

‘चिन्तन-सृजन’ का अंक -4 प्राप्त हुआ था। जिस दौर में विचार के स्तर पर छाई धुंध से भारत का भविष्य अनिश्चित देखाई देता है, ऐसे समय में ऐसी विचारवान पत्रिका का हिन्दी में प्रकाशन स्वागत योग्य है। हिन्दी जगत को ऐसी पत्रिका की लम्बे समय से प्रतीक्षा थी।

अंक-4 के सम्पादकीय में आपने राजनीतिक विखंडन के खतरे की ओर सही संकेत किया है। वस्तुतः मई में सम्पन्न लोकसभा चुनाव के परिणामों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण नहीं किया जा सका। भौगोलिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विखंडन की शक्तियाँ जब पूरी तरह सक्रिय हों तब राजनीति का इस बुरी तरह विखंडित होते जाना राष्ट्रीय कहलाने वाले राजनीतिक दलों के लिये चेतावनी है। इसे अनसुना करना बहुत घातक सिद्ध होगा। इस बात की तलाश की जानी चाहिए कि देश में विखंडन की प्रक्रिया को संचालित करनेवाली शक्तियों के प्रेरणास्त्रोत कौन हैं?

इसी अंक में प्रणव कुमार का आलेख विखंडनवादी शक्तियों को समझने की सामग्री प्रदान करता है। उनके आलेख में तथ्यों के साथ बहुत सामग्री इतिहास के “दीनो” और “दाताओं” के बारे में बहुत कुछ कह जाती है। उस लेख में उद्धृत अंश ठीक प्रकार अनूदित नहीं हुए हैं। ऐसे विद्वत्तापूर्ण लेख में यह कमी अखरती है।

राज थापर की पुस्तक “आल दीज ईयर्स” की विस्तृत समीक्षा पुस्तक के महत्व को प्रतिपादित करती है।

आशा है कि इसी प्रकार भविष्य में विश्व टंडन की आपातकाल की डायरी जैसी पुस्तकों की समीक्षा भी सामान्य पाठकों के लिए उपलब्ध कराते रहेंगे।
—कैलाशचन्द्र पन्त, मंत्री संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल।

आस्था भारती, दिल्ली

अध्यक्ष :

डॉ. जयन्त माधव

अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक,
पूर्व अध्यक्ष, पूर्वोत्तर विकास वित्त निगम

सचिव :

डॉ. ब्रज बिहारी कुमार

कोषाध्यक्ष :

श्री जे.एन. राय

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
पूर्व आयुक्त, नागरिक उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली

सदस्य, शासी परिषद :

1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**

कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग

2. **प्रोफेसर के. के. नारायण कुरुप**

पूर्व कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय

3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**

पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय

4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**

कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय

5. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**

पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक,
दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया अध्ययन केन्द्र,
मद्रास विश्वविद्यालय

6. **श्री प्रकाश सिंह**

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)

पूर्व महानिदेशक, सीमा सुरक्षा बल,

पूर्व आरक्षी महा निदेशक, उत्तर-प्रदेश, असम

7. **श्री राजेश भार्गव**

इंजीनियर, व्यवसाय